शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

योग

न्न्दं श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

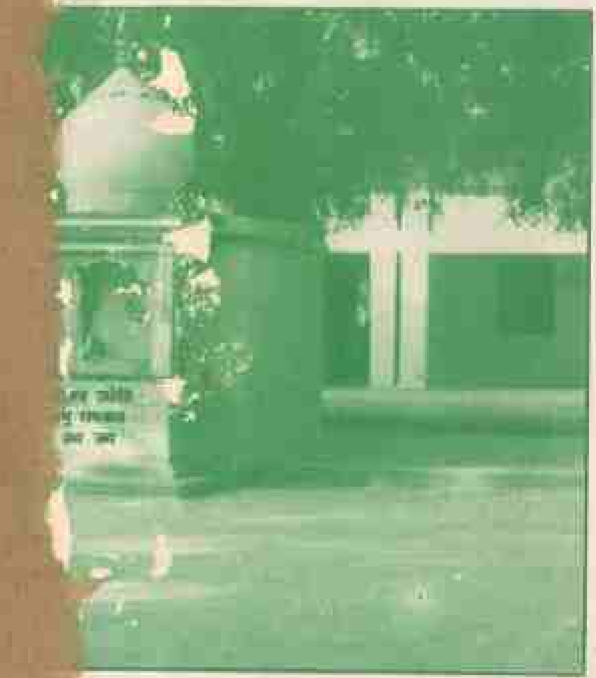

अंक

वाई (आगरा) – 283 202

'SIDDHYOG'
April 1998

इस अंक के लेख

☐ तेभ्यो नरेभ्यो नमः 1
☐ अमृत कण 2
☐ सदगुरुदेव प्रभु श्रीरामलालजी का चित्र 3
☐ विशेष लेख – निरोध एवं वृत्ति........ 5
–योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज
☐ योगः कर्मसु कौशलम् (सम्पादकीय) 9
☐ किमहिर योगः 12
रचनाकार—द्वारका प्रसाद शर्मा
☐ नैतिक शिक्षा और योग 16
–वासुदेव शर्मा
☐ अन्तःकरण की शुद्धि एवं योग 19
– पूर्णचन्द पंत शास्त्री
☐ योग समाधि और व्युत्थान 24
—राजेन्द्र प्रसाद पाठक
☐ महान योगियों के प्रेरक वचन 26
—डा० विजय सिंह
☐ जिनके रामजैसे लाल वे हैं प्रभु रामलाल 28
—अवनीश कुमार भटनागर
☐ पल-पल एक कृष्ण की प्रतीक्षा 32
—रामप्रकाश अनुरागी
☐ हिमालय और गिलहरी 33
–राजेश कुमार श्रीवास्तव
☐ 'सिद्धयोग' के आजीवन सदस्य 39
☐ 'सिद्धयोग प्रकाशनका आय-व्यय विवरण 40

★

❀ वार्षिक शुल्क............... रु० 70.00
❀ एक प्रति .... रु० 7.00
❀ द्विवार्षिक .... रु० 130.00
❀ आजीवन .... रु० 700.00

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा
☐
संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'
☐
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
☐
श्री गोविन्द सोनी
☐
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31
अंक 1

अप्रैल
1998

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यों मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्य:।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोग:।।

तेभ्यो नरेभ्यो नम:

वाञ्छा सज्जन संगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्
भक्ति: शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्ति: खले
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नम:।

अर्थात्

साधु संगति में जिनकी इच्छा बनी रहती है। परगुणों में प्रीति बनी रहती है। गुरु चरणों में नम्रता बनी रहती है। विद्या अर्जन ही जिनका व्यसन है। अपनी धर्मपत्नी में ही जिनकी रति रहती है लोकापवाद से जिनको भय रहता है भगवान शंकर में भक्ति बनी हुई है आत्मनिग्रह में शक्ति बनी हुई है। जो दुर्जनों के संग से मुक्त रहते हैं। जिनमें ये गुण निवास करते हैं—उन मानवों को हमारा नमस्कार है।

अमृत कण

नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति सत्य समं तपः।
नास्ति राग समं दुःखं नास्ति त्याग समं सुखम्।

अर्थात् विद्या के समान चक्षु नहीं है। सत्य के समान तप नहीं है। राग के समान दुःख नहीं है और त्याग के समान सुख नहीं है।

* * *

श्रवणं मननं ध्यानं आत्मज्ञानस्य साधनम्।
यज्ञ दान तपस्तीर्थ वेदैमुक्तिर्न लभ्यते।

(गरुड़ पुराण)

श्रवण, मनन और ध्यान ही आत्मज्ञान के साधन हैं इन्हीं के द्वारा मुक्ति होती है। यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थ एवं वेद पाठ द्वारा कभी भी मुक्ति लाभ नहीं हो सकता।

* * *

इदं तीर्थं इदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसाः जनाः
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्ता वरानने।

(शान संकलनी तंत्र)

तामस प्रकृति विशिष्ट मानव ही तीर्थों में भ्रमण करता फिरता है। किन्तु मुक्ति लाभ नहीं कर सकता क्योंकि उसको आत्मतीर्थ अवगत ही नहीं है।

* * *

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुदेवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

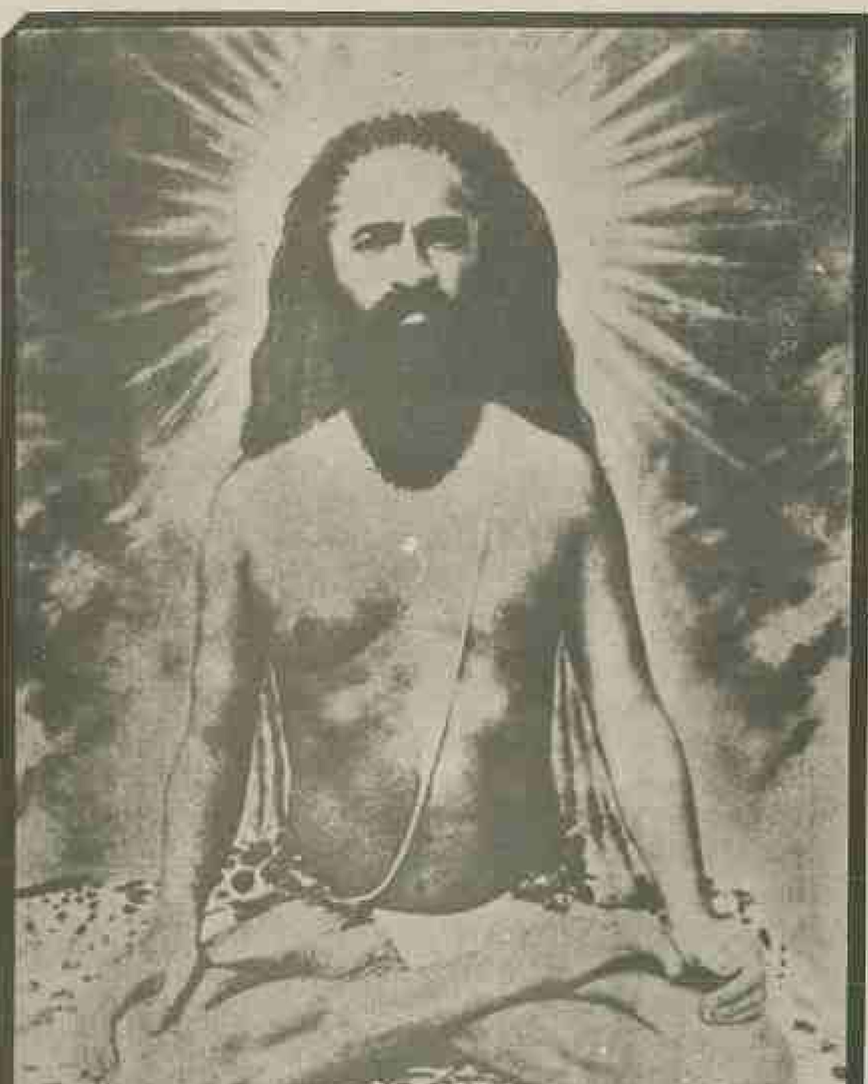

योग योगेश्वर सद्गुरुदेव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज
श्री सिद्धगुफा, सवांई (आगरा)

विशेष लेख

निरोध एवं वृत्ति सारूप्य

योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

पातंजली योग दर्शन के कर्ता भगवान पातंजली ने योग दर्शन के प्रारंभ में ही **'अथ योगानुशासनाम'** इस सूत्र के बाद दूसरे 'सूत्र' **योगाश्चित वृत्ति निरोध:** कहकर योग की सही परिभाषा लिखी है। योगाभ्यास करने वाला साधक क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एवं एकाग्र रूप चित भूमिकाओं से निकलता हुआ निरोधावस्था को प्राप्त होता है। वही जीवात्मा को **कैवल्य** स्थिति है। दूसरे शब्दों में इसी का नाम निर्जीव समाधि है एवं स्वरूप स्थिति कहा गया है। निरोध समाधि में जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुये भगवान पातंजली देव ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया **'तदाहष्टु स्वरूपे व स्थानम'** अर्थात् समाधि स्थिति में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थिति रहा करता है स्वरूप स्थति क्या चीज है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुये भगवान व्यास देव ने इस सूत्र के भाष्य में केवल मात्र एक छोटी सी पंक्ति लिखी है।

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीम् चिति शक्तिर्यथा कैवल्ये अर्थात् तदानी स्थितौ स्वरूप प्रतिष्ठा तावत् की दृशी यथा कैवल्ये चितशक्ति: भवति।

अर्थात् उस निरोध समाधि में जिसका नाम निर्जीव स्थिति व स्वरूपा व स्थान के रूप में वर्णन किया है। उस स्थिति में चित्त शक्ति अर्थात् जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका उत्तर केवल मात्र दो ही शब्दों में दिया गया कि— यथा कैवल्य मोक्ष में जीवात्मा हुआ करता है, उसी का नाम स्वरूप स्थिति कहा गया है उस स्थिति में पहुंचने पर जीवात्मा के सब दु:ख द्वन्द्व छूट जाते है और उसका स्व. स्वरूपावस्थान हो जाता है। यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है। हमारे शास्त्रों में एवं श्री मद्‌भगवद्‌गीता में अखिल लोक पवन जगदात्मा श्री कृष्ण ने अछेय अभेद्य आदि कहकर इसको विकाररहित बतलाया है:—

कि इस आत्मा को शस्त्र काटते नहीं है अग्नि जलाती नहीं है पानी इसको गीला नही करता वायु सुखा नहीं सकता यह अछेद्य है अदाह्य है अक्लेद्य एवं अशोष्य है यह आत्मा सर्वत्र ओत—प्रोत रहने वाला निश्चित अचल और सनातन है यह अव्यक्त, अचिन्तय, एवं अविकारी कहा गया है यह सब आत्मा के स्वरूप की बातें समझाकर भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सीधे और स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

तस्मादेव विदित्वैन नानू शोचितु महँसि।

अर्थात्—हे अर्जुन इस आत्मा के उपरोक्त उपदेश को सुनकर एवं अन्यान्य औपनिषदिक सिद्धात को समझा कर आत्मा की स्थिति निर्विकार एवं सब प्रकार से शुद्ध है। किन्तु योग दर्शन के **तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्** पर भाष्य लिखते हुये समाधि में आत्मा की स्वरूप स्थिति बतला कर 'व्युत्थान चितु सति तथापि भवन्ति न तथा, अर्थात व्युत्थान चित्त में चित शक्ति अछेद्य, अभेद्य रहते हुये भी वैसी नहीं होती, क्योंकि वह दर्शित विषया बन जाती है इस स्थिति को भगवान पातंजली देव ने वृत्ति सारूप्य कहा

है। यथा **'वृति सारूप्य मितरत्र'** अर्थात इतरत्र व्युत्थानावस्था में चैतन्य आत्मा को वृति सारूप्य हो जाता है। निरोध जैसी स्थिति नहीं रहती ऐसी स्थिति में विकार रहित शुद्ध चेतन आत्मा विकारी सा दीखने लगता है और वह अपने सब कार्य बुद्धि बोध के अनुसार किया करता है। स्वरूपोपलब्धि हो के बहुत से उपायों का वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है किन्तु ऊँची–ऊँची ज्ञान भूमिकाएँ एवं निर्जीव समाधि में भी पहुँच जाने के बाद भी ज्यों ही चेतनशक्ति बुद्धि बोध । को प्राप्त होती है त्यों ही वह वृत्ति सारूप्य होने से जैसे जिसकी अन्तःकरण की वृत्ति होती है वैसे ही वह प्राणी चेष्टायें करने लगता है गीता में भगवान श्री कृष्ण ने इसका संकेत **'सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकर्तेज्ञान वानपि'** कह कर दिया है, **प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति** अर्थात ज्ञानी पुरुष भी अपने आप को नित्य शुद्ध बुद्ध मनन करते हुये भी जैसा उसका बुद्धि बोध है वैसी–वैसी हरकते किया करता है।

यही कारण है बड़ी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुये महात्माओं के चरित्र उनकी अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार दिखलाई देते हैं। भगवान राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता जगदात्मा श्री कृष्ण की लीला उनकी अपनी स्वीकार की गयी कृति की परिचायक है मेरे गुरूदेव योग योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज वृति सारूप्य का पूरा–पूरा स्वरूप समझा देने वाला एक उदाहरण अपने मुखारविंद से बतलाया करते थे, वृति सारूप्य के स्वरूप को समझाने के लिये मैं उसको यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ।

सुंदरसिंह डाकू का उदाहरण—ऋषि से लगभग ७ या ८ मील ऊपर भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर ब्रह्मपुरी नाम का एक जंगल है हिमालय की यात्रा करते हुये सबसे प्रथम ऋषिकेष से चलने के बाद मेरे गुरूदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस जंगल में निवास किया था। जिन दिनों श्री प्रभुजी इस वन में निवास किया करते थे उन्हीं दिनों महात्मा कृपालानंद नाम के एक सिद्ध योगीराज भी निवास किया करते थे उन्होंने अपने आपको शिवमय बना लिया था।

भगवान शिव की शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था वे महात्मा अणिमादिक ऐश्वर्यों से सब प्रकार से परिपूर्ण एवं कर्तुमाकर्तुम अन्यथा कर्तुम की ताकत वाले सर्व–समर्थ महात्मा थे। उन्हीं दिनों सुंदरसिंह नाम का एक डाकू कहीं से डाका मारकर कई हजार का सुनहरी जेवरात लूटकर वहाँ लाया। वह चाहता था कि उस कीमती जेवर को कहीं जंगल में छिपा दें और समय आने पर पुनः वहाँ से निकाल ले जायें उस डाकू का कोई पूर्वपुण्य उदय हुआ। जिसके फलस्वरूप कहीं से घूमते हुये योगीराज श्री कृपालानंद जी अकस्मात उधर से आ निकले उन्होंने उस डाकू की उस क्रिया को देख लिया और उससे कहा कि तू यह क्या कर रहा है उसने जबाव दिया कि महाराज मै डाकू हूँ डाका मारकर कुछ धन यहाँ ले आया हूँ और उसको यहाँ दबा रहा हूँ ताकि कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर मैं यहाँ से निकाल ले जाऊँ। महाराज मै डाकू हूँ और यह मेरी वृत्ति है। योगीराज श्री कृपालानंद जी को उसकी सत्यवादिता एवं विनय पर स्वाभाविक प्रसन्नता आ गयी और उन्होंने कहा कि डाकू क्या तू हमारी इस आज्ञा से इस कुकर्म को छोड़ देगा और जो कुछ हम कहेंगे वह काम करेगा। उस डाकू ने योगीराज की इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और निः संकोच कह दिया कि प्रभो आप जो भी कुछ कहेंगे मैं उसका सदा सर्वथा बिल्कुल पालन करने को तैयार हूं, आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूं।

योगीराज कृपालानंद ने किसी पूर्व पुण्य वश उस डाकू के विनय पूर्वक वचनों को सुनकर आज्ञा दी कि अच्छा यह जितना जेवर तुम यहां छुपाने के लिये लाये हो उसको उठा लाओ और हमारे साथ चलो उस डाकू ने अपना सौभाग्य समझकर तत्काल योगीराज की आज्ञा को मान लिया और सुनहरी जेवर की गठरी को उठाकर उनके साथ चल दिया महात्मा उसको गंगा किनारे ले गये और वहां ले जाकर आज्ञा दी कि अच्छा अब इस सब जेवर को यहां से गंगाजी में ही फेंक दो। डाकू ने योगीराज की आज्ञा को मानकर सब जेवर गंगाजी में फैंक दिया और स्वयं निर्द्वन्द हो गया। योगीराज श्री कृपालानंद जी की अहैतु की कृपा से उसी समय से वह सद्ग्ज्ञान का विद्यार्थी बन गया और उत्तरोत्तर उसका आत्मोत्थान होने लगा। योगीराज कृपालानंद जी ने उस सुंदर सिंह नाम के डाकू को योगीराज सुंदर गिरी नाम में परिवर्तित कर दिया। शनैः—शनैः अपने तीव्रतम योगाभ्यास एवं शुभाचरण के फलस्वरूप वह अणिमादिक सकल ऐश्वर्यों को पा गया किन्तु योगीराज सुंदरगिरी के सर्व समर्थ हो जाने के बाद ही वृत्ति सारूप्य के फल स्वरूप जिस समय वह अपनी निर्जीव समाधि से उठकर वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होते त्योहिं अपने डाकू स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते थे क्योंकि **स्वभावोहि दुःस्त्यजः पुंसाम** क्यों कि स्वभाव एक प्रकार से वृत्ति सारूप्य ही है। इसी बात को संकेत करते हुये भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यसि नशोऽपि तत्।।

अर्थात्—हे अर्जुन मनुष्य अपने स्वभाव से निबद्ध है। जिस कर्मों को तू मोहवश नहीं करना चाहता, वे सर्व कर्मवश होकर तुम्हें करने की पड़ेंगे। यह नियम साधु महात्मा सन्यासी एवं साधारण जीव सभी पर सामान्य रूप से लागू है।

योगी सुंदरगिरी का हरिद्वार कुंभ में आगमन

योगीराज कृपालानंद के परमानुग्रह से डाकू सुंदर सिंह के स्वरूप से बदल कर परिवर्तित होने वाले योगी सुंदरगिरी एक बार हरिद्वार कुंभ में आये। कई सौ की तादाद में उनकी शिष्या मंडली उनके साथ थी। इतने बड़े समुदाय के लिये अन्न क्षेत्र की बड़ी भारी आवश्यकता थी। योगी सुंदरगिरी ने देखा कि इस कुंभ के मेले में कोई एक बड़े धनिक आये हुये हैं जिनसे इस अभाव की पूर्ति करानी चाहिये। योगी सुंदरगिरी सर्व समर्थ थे, चाहते तो उन सेठजी के मन में प्रेरणा करके भी उस काम को करा सकते थे। किन्तु उन्होंने वैसा न करके अपने एक शिष्य के द्वारा एक आज्ञापत्र लिख कर भेज दिया कि इतनी बोरी खांड, इतनी बोरी आटा, इतने कनस्तर घी के, इतना साग—सब्जी व अन्यान्य सामान तत्काल भेज दो। सेठ जी ने इतने बड़े सामान को भेजने में जब आना कानी की तो योगी सुंदरगिरी ने प्राणाकर्षिणी विद्या से उनके प्राणों को खींचना प्रारम्भ कर दिया और जो काम साधारण प्रेरणा मात्र से कराया जा सकता था उसको कठिन आकर्षण से जबरदस्ती कराया। इसी का नाम वृत्ति सारूप्य है।

सर्वसाधारण प्राणी वृत्ति सारूप्य में रहा करते हैं। केवल मात्र युक्त योगी जिसने अपने कठिन प्रयास से निर्जीव समाधि को प्राप्त कर लिया है। वह ही देह धारण करते हुये भी निर्जीव समाधि में स्वरूपा व स्थित होते हैं। जो लोग बिना परिश्रम के एवम् बिना तपश्चर्या के सिद्धानुग्रह को पाकर उच्चतम स्थितियों को पा जाया करते हैं, वे वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होकर अपने स्वभाव वश पाप पुण्य के झमेले खरीद लिया करते हैं। इसलिये जहाँ योगी अपने समाधि रूप परम

लक्ष्य को प्राप्त करता है। वहाँ अपने किलष्ट वृत्तियों के नाश करने के लिये तीव्रतम तपश्चर्या अथवा योगांगो के अनुष्ठानों की उसे भारी आवश्यकता रहती है। जिससे इस शरीर के अंदर रज–तम के क्षय हो जाने के बाद सतोमयी शुभ वृत्तियों का उदय हो जाये जिससे वृत्ति सारूप्य काल में उससे शुभ कार्य ही हो सके।

वैसे मनुष्य के जीवन में क्लिष्टाकृत वृत्तियों का उत्थान पतन प्राय: होता ही रहता है किन्तु उस व्यक्ति का पुरूषार्थ सफल है जिसने अपनी मनोवृत्तियों को क्लिष्टता से निकाल कर अपने आप को शुभ वृतीक बना लिया है। जिसकी वृत्ति बिना ही समाधि के दम्भाकार बनी रहती है एवं जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है वह व्यक्ति देह धर्मों के अंदर रहता हुआ भी मुक्त आत्मा है। और उसने आप को पतन से परे निकाल लिया एवम् कृतार्थ बना लिया है वह हर कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता एवम् सब प्रकार के कर्मबंधन से परे है स्थित प्रज्ञ पुरुष के लक्षण गीता में भगवान श्री कृष्ण ने बहुत ही सुंदर शब्दों में लिखे हैं सर्व हितार्थ उनका यहाँ लिख देना बहुत ही समुचित मालूम देता है। अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से स्थिति प्रज्ञ के लक्षण पूछे वे इस प्रकार हैं:

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा

समाधिस्थस्य केशव

स्थित धी: किं प्रभासेत

किमासीत ब्रजेत किम्।।

अर्थ—हे प्रभो स्थित प्रज्ञ समाधिस्थ पुरुष के क्या लक्षण हैं। स्थित प्रज्ञ कैसे चलता है कैसे बैठता है जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के इस पवित्र प्रश्न को सुनकर उसका उत्तर इस प्रकार दिया, अर्थात् जिस समय मनुष्य अपनी मनोगत सर्वकामनाओं को छोड़ कर एवम् अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहता है तभी वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है। दु:खों में जिसका मन दु:खी नहीं होता और सुखों की जिसे इच्छा नहीं होती जिसके मन मे राग भय क्रोध निकल गये है वह मुनि स्थिति प्रज्ञ कहा गया है जो व्यक्ति सर्वत्र, स्नेह रहित रहता है अच्छा या बुरे शुभ–अशुभ फल को पाकर न किसी प्रकार का दुख मानता है न खुश होता है। वह अवश्य स्थित प्रज्ञ है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेटकर अपने अंदर कर लिया करता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति ने अपनी सारी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से हटाकर अपने वश कर लिया है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है जो व्यक्ति निराहार रहता है उसकी वासना नष्ट प्राय: हो जाती है किन्तु विषयों में क्या आनन्द होता है। इस रस की भावना पर दर्शन के बाद ही निवृत होतीं है।

विद्वान पुरुष इन्द्रिय जय का प्रयत्न करते हैं किन्तु उनके यत्न करने पर भी इन्द्रियों का बल इतना बढ़ा है कि बलात् विद्वानों के मन को भी हर लेती है। इन्द्रियों को संयम मे लाकर और चित को समाहित करके जो व्यक्ति मृतपरायण है और इन्द्रियां जिसके वश में हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है जो पुरुष विषयों का चिंतन करते हैं वह विषय संगी बन जाते हैं और विषय संग से मन में काम पैदा हो जाता है और कामना के पूर्णन होने से क्रोध बढ़ जाता है और क्रोध से मनुष्य, संमोह को प्राप्त होता है और संमोह रूप मूढ़ता से स्मृति भ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश और, बुद्धि के नाश हो जाने से अवश्य नष्ट हो जाता है।

सारी कामनाओं को छोड़कर जो पुरुष नि:स्पृह ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर विचरता है वही शान्ति को प्राप्त करता है।

हे अर्जुन यही पवित्रतम स्थिति है जिसको पाकर मनुष्य कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता और इसमें स्थित रहने वाले व्यक्ति अन्त में ब्रह्म निर्वाण मोक्ष को प्राप्त होता है।

* * *

सम्पादकीय

योगः कर्मसु कौशलम्

योग अत्यन्त व्यापक शब्द है। यह जीवन के समस्त पहलुओं को अपनी परिधि में समेट लेता है। इस कारण योग की प्रत्येक परिभाषा अपने समग्र अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ है। योग दर्शन में चित्त की वृत्तियों का उन्मूलन ही योग कहा गया है। चित्त में संचित कर्म के रूप में पड़े हुये संस्कार ही वृत्ति रूप में उद्भावित होते हैं। इसके अनन्तर वृत्ति के अनुसार मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त हुआ करता है। योग दर्शन में संस्कार–वासना को निर्मूल करने के लिये नाना उपायों का वर्णन किया गया है जिन्हें कर्मयोग, क्रियायोग तथा साधनयोग आदि–आदि नामों से जाना जाता है।

श्री मद्भगवद् गीता में भगवान ने योग के व्यापक अर्थ का सम्यक् बोध कराने के लिये स्थल–स्थल पर योग की परिभाषा शब्दान्तर से की है। **'योगः कर्मसु कौशलम्', 'समत्वं योग उच्यते'** आदि–आदि प्रसिद्ध परिभाषायें हैं। इनमें 'योगःकर्मसु कौशलम्' यह परिभाषा बहुत व्यापक अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इस वाक्य का केन्द्र बिन्दु 'कर्मसु' यह पद है। योग शास्त्र में अविद्याजन्य कर्म ही सम्पूर्ण दुःखों का कारण माना जाता है। जीव के बन्धन का कारण क्लेश, कर्म, विपाक, और आश्रय हैं। जब तक क्लेश और तज्जन्य कर्मादि की निवृत्ति नहीं होती तब तक जीव की बन्धन की ही अवस्था रहती है। जब योगी योग साधना से क्लेश का समूल उन्मूलन कर देता है तब उसकी मुक्तावस्था मानी जाती है। इस प्रकार से कर्मसंस्कार का नाश ही योग का लक्ष्य होता है। कर्म की क्या परिभाषा है ? योगदर्शन में **'कुशलाकुशलानि कर्माणि'** कहा गया है। अर्थात् राग और द्वेष से प्रेरित पाप और पुण्य को देने वाले दो प्रकार के कर्म होते हैं इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर और इन्द्रियों से होने वाली नाना प्रकार की स्वाभाविक, क्रियायें कर्म की परिभाषा क्षेत्र में नहीं आती। सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिस क्रिया के करने में हमारा राग और द्वेष भाव जुड़ा रहता है उसे हम कर्म कहते है।

श्रीमद्भगवत गीता के निष्काम कर्मयोग पर बहुत अधिक विचार गीता के टीकाकारों ने किया है। निष्काम कर्मयोग अर्थात् कामना रहित कर्मयोग। कर्मयोग के शब्दगत अर्थ पर ध्यान देने पर इसके दो प्रकार से अर्थ किये जा सकते है इसका एक अर्थ होगा ऐसा कर्म जो योग तक पहुँचा दे। दूसरा अर्थ होगा योग प्राप्ति के लिये कर्म करना अर्थात् चित्त को समाहित कर तत्त्व ज्ञान के उपाय भूत कर्मों का सम्पादन करना। योग साधना की दृष्टि से यदि कर्म योग को ध्यान योग के नाम से अभिहित करें तो यह और अधिक व्याप्त एवं स्पष्ट लक्षण वाला हो जाता है। कर्म एवं संस्कार वासना का बीज चित्त में रहता है। जब तक समाधिजन्य ज्ञानाग्नि से इसका क्षय नहीं हो जाता तब तक दुःख एवं संस्कार का चक्र समाप्त नहीं होता। मनुष्य जब तक कर्म की परिधि में घूम रहा है निष्काम कर्मयोगी नहीं हो सकता। क्षणिक वैचारिक स्तर पर कर्मफल के

त्याग का रूपक बनाने मात्र से कर्मफल का त्याग नहीं हुआ करता। ध्यान योग के निरन्तर अभ्यास से योगी अपने संकल्प मात्र से अभीष्ट वस्तुयें प्राप्त कर लिया करता है। आत्मदर्शन का लाभ हो जाने पर वह पूर्ण काम हो जाता है—आप्त काम हो जाता है। वह आत्मा में ही रमण करने वाला बन जाता है। **'आत्मन्येव आत्मन: तुष्ट:'** अर्थात् अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने वाला बन जाता है। फिर उसके मन में कामनाओं का उद्भव ही नहीं होता। अस्तु। कर्मफल त्याग केवल मुख से उच्चारण करने का विषय नहीं है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये क्रम से कई सोपानों से गुजरना पड़ता है। गीता में भगवान ने इसके लिये इस प्रकार का क्रम बताया है।

''श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात् कर्मफल त्याग: त्यागाच्छान्ति रन्तरम्

इसका सीधा अर्थ तो होगा कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि कर्मफल त्याग से अखण्ड शान्ति मिलती है। यहाँ इस श्लोक में श्रेष्ठता के उत्तरोत्तर क्रम के साथ ही साथ अभ्यास क्रम का भी संकेत संनिहित है। जिसके अनुसार बार—बार मन की एकाग्रता के अभ्यास से ज्ञान उत्पन्न होने लगता है। ज्ञान के उदय के साथ ही ध्यान में दृढ़ता आती है। ध्यान के दृढ़ हो जाने पर तत्वदर्शन के साथ ही कर्मफल का त्याग स्वत: होने लगता है और इस कर्मफल का त्याग स्वत: होने लगता है और इस कर्मफल रूपी त्याग से अखण्ड शान्ति मिलती है। इस प्रकार से कर्मफल त्याग की वास्तविक स्थिति की प्राप्ति के लिये तत्व दर्शन अपरिहार्य है। इस विषय में एक सिद्धांत मिलता है—

ऋतुं प्राप्य यथा वृक्ष: पत्रं त्यजति नि:स्पृह:
तत्व प्राप्य तथा योगी त्यज्यते कर्मभि:॥

अर्थात्—जिस प्रकार से पतझड़ के आने पर वृक्ष से पत्ते स्वत: ही गिरने लगते हैं उसी प्रकार से तत्व ज्ञान होने पर कर्म स्वयं ही योगी से अलग हो जाया करते हैं। गीता में उपदिष्ट योग: **'कर्मसु कौशलम्'** का मुख्य तात्पर्य है कर्म बन्धन से छूटने का उपाय योग है। इसके लिये भगवान ने **बुद्धियोग** का सिद्धान्त रखा है।

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम्

अर्थात्—बुद्धि युक्त हुआ योगी पाप और पुण्य को त्याग देता है—अलिप्त रहता है इसलिये **'योगाय युज्यस्व'** 'योग में अपने को जोड़ लो' इस तरह करने से कर्म करते हुये भी पाप—पुण्यात्मक कर्म से असंग रहता हुआ योग को प्राप्त कर लेता है। इससे पूर्व के श्लोकों में भगवान ने गीता में योग में स्थित होकर कर्म करने की आज्ञा दी है। इस प्रकार योगस्थ होकर कर्म करने से लाभ हानि की आसक्ति नहीं रहती। बुद्धियोग की प्राप्ति होने पर योगी नित्य चेतन आत्मा से युक्त रहने लगता है। इसलिये वह तत्वज्ञान से युक्त हो जाता है। बुद्धियोग की स्थिति प्राप्त हो जाने पर योगी 'योग' को प्राप्त कर लेता है। भगवान कहते हैं :—

श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला
समाधाव चला बुद्धिः तदायोगमवाप्स्यसि।।

अर्थात्—हे अर्जुन ! अनेक प्रकार के मत और सिद्धान्तों के श्रवण से विचलित हुई तेरी बुद्धि जिन सिद्धांतों के श्रवण से विचलित हुई तेरी बुद्धि जिस समय निश्चला और अचला समाधि में ठहर जायेगी तब तू योग के स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। इसी समाधि जन्या निश्चला और अचला बुद्धि का ही स्थिति जन्या निश्चला और अचला बुद्धि का ही स्थित प्रज्ञ नाम है। योग दर्शन में इसी स्थित प्रज्ञता को प्राप्त करने के लिये ही नाना उपायों का वर्णन है। इन उपायों के दृढ़तर अभ्यास से बुद्धि को पूर्णतः या ठहराव की स्थिति में लाकर योगी ऋतम्भरा बुद्धि को पा जाता है। यह ऋतम्भरा बुद्धि ही तत्व ज्ञान को प्रकट करने वाली होती है। तत्व ज्ञानी व अन्तर्द्रष्टा योगी के द्वारा सम्पादित होने वाले कर्म ही निष्काम कर्म हो सकते हैं।

सामान्य स्थिति के व्यक्ति से निष्काम कर्म नहीं हो सकता। योग दर्शन में योगी के कर्म **'आशुक्ला कृष्ण'** माने गये है। भगवान ने **'बुद्धियुक्तों जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते'** के द्वारा जिस सिद्धांत को सामने रखा है योगी का 'आशुक्लाकृष्ण' अर्थात् पाप–पुण्य की परिधि से दूर कर्म उसी श्रेणी का कर्म है। वस्तुतः देखा जाये तो यही निष्काम कर्म होता है। योग शास्त्र में कर्म की चार जाति मानी गई है। जिनमें प्रथम प्रकार में पाप के कर्म, द्वितीय में पुण्य के कर्म, तृतीय में पाप–पुण्य मिश्रित तथा चौथे प्रकार के कर्म पाप–पुण्य एवं उसके मिश्रण से रहित कर्म होते हैं।

कर्म के बीज का पूर्णतया नाश तत्व ज्ञान के द्वारा परावर दर्शन होने पर ही होता है। उपनिषद में वचन है:—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

अर्थात्—समाधिजा ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा परावर दर्शन से योगी के हृदय की अज्ञान ग्रन्थि टूट जाती है। सब प्रकार के संशय कट जाते हैं। सम्पूर्ण कर्म बीज क्षय (दग्ध भाव) को प्राप्त हो जाते हैं।

योग का लक्ष्य बुद्धि में पड़े कर्म बीज का समूलोन्मूलन करना है जो गीता के **'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते'** के अनुसार आत्मदर्शन लाभ के पश्चात स्वतः ही हो जाता है। वस्तुतः गीता के निष्काम कर्मयोग का सम्पादन वही व्यक्ति कर सकता है जो विवेकप्रज्ञा को प्राप्त हो। ऐसे व्यक्ति कर्मफल से लिपायमान नहीं होता है **'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'** आत्मवान अर्थात् आत्मज्ञानी को कर्म बन्धन में नहीं बाँध सकते। ऐसा आत्मज्ञ सिद्धयोगी लोककल्याण एवं लोकसंग्रह (लोकोपदेश) के लिये कर्म करता है। उसका यह कर्म वस्तुतः निष्काम कर्म योग होता है। इसके लिये भगवान ने गीता में बुद्धियोग अर्थात् ध्यानयोग का उपदेश दिया है इस प्रकार से शनैः शनैः ध्यानयोग का अभ्यास करते–करते समाधि से स्थिर–प्रज्ञा को प्राप्त कर योगी ब्राह्मी स्थिति को पा जाता है। यही योग शास्त्र का सार व उपदेश है— गीता में भगवान का भी यही उपदेश है।

* * *

किमस्ति योग:

रचनाकार : द्वारकाप्रसाद शर्मा (लखनऊ)

श्री गुरूचरणेभ्यो लब्ध प्रसादोऽहं पुनरारभे 'साधन पाद' इति द्वितीय पादस्य त्रीणि सूत्राणि प्रगृह्य निजैः श्लोकै स्वानि सम्बद्धय हिन्दी भावानुवाद सहितञ्च प्रस्तौमि। त्रीणि सूत्राणि निम्नांकितानि—

(1) तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।

(2) स हि क्रियायोगः समाधिभावनार्थः क्लेश तनूकरणार्थश्च।

(3) अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेषाः।

अतोऽनन्तरं क्रमशः सूत्रान्तर्गताः पद्यः श्लोकायिताः।

(1) समाधिपादं नवशृंखलाभिः श्लोकैर्मया श्री गुरुभिः प्रसादात्।
व्याख्यायितं यत् पठितं सुधीभिः, अतस्तदनु साधन, पादमारभे।।

'सिद्धयोग' के पूर्वांकों में 'किमस्ति योगः' शीर्षक के अधीन सुविज्ञ पाठक समाधि पाद में आये सूत्रों पर रचित श्लोको तथा भावानुवाद को पढ़ चुके है। समाधिपाद के अन्तर्हित सूत्रों की अन्तिम नवीं शृंखला में इसका समापन हुआ है।

द्वितीय पाद साधन—पाद से अभिहित है। इसके प्रथम तीन उल्लिखित सूत्रों पर यह दशमी शृंखला प्रस्तुत है।

(2) समाधिपादे सकलानि यानि, सूत्राणि व्याहर्तुमलानि तेभ्यः।
येषान्तु चिन्तानि स्वभावतो हि, शुद्धानि संस्कारवशाद् गतानि।।

समाधिपाद में जिन—जिन सूत्रों का समावेश किया गया है, वे सब सूत्र उन्हीं साधकों के लिये उपयोगी हैं, जिनके चित्त सत्वगुण से युक्त और स्वभाव से तथा संस्कारवशाद् शुद्ध है।

(3) द्वितीय पादे समवर्णितानि, सूत्राणि साधारण मानसेभ्यः।
समावहन्ति परमोपयोगितां, क्रिया साधनात् साधन—पाद एषः।।

द्वितीय पाद अर्थात् साधन—पाद तो साधारण जनों के लिये परमोपयोगी है। इसमें क्रिया योग से समाधि प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। क्रियाओं के साधन से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति इससे यतः होती है, अतः इस अध्याय का नाम भी साधन—पाद सार्थक है।

(4) ये यैरूपायैर्लभते फलत्वं, निरन्तराभ्यासरतो जनोऽपि।

तांस्तानुपायान् वृणुते महर्षिः, पतञ्जलिः प्राकृत मानवाय।।

निरन्तर अभ्यास निरत एक साधारण जन भी जिन–जिन उपायों द्वारा सफलता प्राप्त कर लेता है। उन–उन उपायों को महर्षि पतञ्जलि ने प्रथम सूत्र में वरण व ग्रहण किया है।

(5) चित्तात्म शुद्धयै प्रथम स्तपोऽस्ति, मनःकाय वाग्मिस्त्रिविधं तदेतत्।

द्वन्द्वेषु सुखदुःख तृषा क्षुधादिषु, शारीर में तत्त पश्चिन्न शुद्धयै।।

चित्त की शुद्धि के लिये प्रथम उपाय है तप। तप तीन प्रकार से हुआ करता है। शारीरिक, मानसिक व वाचिक। शरीर का जो तप है उसमें स्थूल रूप से द्वन्द्वादिकों जैसे सुख–दुःख, क्षुधा, तृष आदि को सहन करना, इस शारीरिक तप के अन्तर्गत आते हैं।

(6) चित्तस्य शुद्धयै मनसोऽपि शुद्धिः, अनिवार्यतस्तत्करणीयमस्ति।

उदात्त चरितं सद्भावनायुतं, सच्चिन्तनं मानसिकं तपः स्यात्।।

चित्त की शुद्धि के लिये अनिवार्य रूप से मन की शुद्धि होनी चाहिये। उदारभाव, सद्भावनाओं मेरे विचार आदि मानस तप के अन्तर्गत आते हैं।

(7) वाण्या सदा सत्यव्रतस्य धारणं, सम्भाषणं च मधुरं न वृथाप्रलापम्।

मौनं, जपं चैव तपस्तु वाचिकं, चित्तात्मशुद्धयै परिभावितं खलु।।

वाणी का तप है, सदा सत्यव्रत का धारण करना, मीठा बोलना, व्यर्थ न बोलना मौन धारण करना तथा ओंकार अथवा गायत्री मंत्रोच्चार आदि।

(8) तपोऽनन्तरं स्वात्म परिष्कृताय, स्वाध्याय कार्ये परियोजनीयम्।

वेदेषु शास्त्रेषु जपेषु चैव, न्यसेन्मनस्वी निज मानसं सदा।।

तप के अतिरिक्त, आत्मशुद्धि हेतु मनुष्य को स्वाध्याय में अपने चित्त को लगाना चाहिये। इसके अन्तर्गत आत्म चिन्तन के साथ–साथ वेद, शास्त्रों, सद्ग्रन्थों तथा जपादि में चित्त को विनिविष्ट करना अभीष्ट है।

(9) अतोऽपरं चित्तशुद्धयै मनस्वी, ईशस्य चरणेषु क्षिपेन्मनो निजम्।

यद्यत्कृतं कर्म समर्पयेत्तत्, ईशाय तस्मै जगदात्मने वा।।

इसके अतिरिक्त चित्त शुद्धता के लिये अपने मन को ईशचरणार विन्द में समर्पित

करना भी सर्वोत्तम उपाय है। जो-जो कार्य मनुष्य करें उसमें अहं बुद्धि त्यागे और ईश चरणों में ही पूर्ण समर्पण भाव को लगावे।

(10) लक्ष्यः स्वकीयः खलु एक एव, मनश्चञ्चलं स्थैर्य सम्प्रदातुम्।
क्रियायोग एवापि कुरुते तदेव, ज्ञानप्रसारं च समाधिमत्त्वम्॥

हमारा सबका लक्ष्य तो मात्र एक ही है। वह है चञ्चल मन का निग्रह। उसमें क्रियायोग की यह पद्धति वही कार्य करती है। ज्ञान प्रसार के साथ-साथ समाधि-स्थिति तक ले जाना।

(11) चित्ते स्वकीये न हि जानते जनः कस्मात्तु कालात चिरसंचितानि।
बीज प्ररोहाणि समुल्लसन्ति, व्रजन्ति ह्रासोन्मुखतां च तानि॥

मनुष्य नहीं जानता कि उसके चित्त में किस अज्ञात काल से चिर संचित वासना रूप बीजांकुरों का अम्बार लगा है। इस क्रियायोग से वे समस्त संस्कार शनैः शनैः शिथिल व ह्रसित होते रहते हैं।

(12) तपसा शुद्ध्यति मनः इन्द्रियाणि तथैव च।
प्राणश्च पुष्टो भवति, धत्ते निर्मलतां तथा।

तप के द्वारा ही, मन, इन्द्रियां व प्राण निर्मल व पुष्ट हुआ करते हैं।

(13) स्वाध्यायाच्चेतसश्चैव, विक्षेपाऽवरणात्मकाः।
संशुद्धिमभ्येत्य चित्तं, समाधि पात्रतां नयेत्॥

स्वाध्याय में निरत रहने चित्त के आवरणभूत विक्षेप शुद्ध होते चले जाते हैं। तथा साधक को समाधि-पात्रता तक ले जाते हैं।

(14) ईश्वर प्रणिधानाच्च, समाधिर्लभ्यते ध्रुवम्।
क्लेशाः शिथिलायन्ते, वैराग्यं पुष्टि मामजेत्॥

ईश्वरार्पित कर्म करते रहने से समाधि निश्चित रूप से प्राप्त हो जाया करती है। क्लेशों की क्षीणता तथा वैराग्य की सम्पुष्टि होती है।

(15) ततोऽभ्यासवशात्पुंसः, संप्रज्ञाता स्थितिस्तदा।
समाधेः प्रापणीया स्यात्, एतदुक्तं महर्षिणा॥

अभ्यास की स्थिरता व निरन्तरता से मनुष्य को सम्प्रज्ञात-समाधि स्थिति प्राप्त हो जाती है, ऐसा महर्षि पंतञ्जलि का कथन है।

(16) के के नश्यन्ति क्लेशा वै, क्रियायोग समाश्रयात्।
अग्रिमं सूत्रमालम्ब्य, उद्धृतं तन्महर्षिणा।।

क्रियायोग की पद्धति के अनुसरण से मनुष्य के कौन–कौन से क्लेशों का क्षय होता है। अगले सूत्र में महर्षि द्वारा उसी का उल्लेख हुआ है।

(17) पञ्चक्लेशास्तु कथिता, 'अविद्या' 'अस्मिता' च वै।
'रागो' द्वेष स्तथा तत्र, पंचमोऽभिनिवेशकः'।।

पाँच क्लेश हैं– (1) अविद्या (अज्ञान) (2) अस्मिता (अहङ्कृति) (3) राग (आसक्तिभाव) (4) द्वेष (शत्रुभाव) (5) अभिनिवेश।

(18) अविद्याद्यास्तु क्लेशा वै, जीवानां दुःखहेतवः।
चेतसि वर्तमाना हि, संसृते मूलकारणम्।।

अविद्यादि जो क्लेश हैं यही मनुष्य मात्र के दुःख के कारण हैं। ये चित्त में संस्कार रूप में यतः विद्यमान रहते हैं, अतः आवागमन में (भवचक्र) ये ही मूलकारण हैं।

(19) एते क्लेशकराः क्लेशाः, सांख्ये शब्दायिता अपि।
क्रमात तमस्तु मोहश्च, महामोहस्तथैव च।।

(20) तामिस्रोऽन्धतामिस्रः, मिथ्या ज्ञानस्य हेतवः।
अविद्या हि यतस्तेषा, मूलकारण मुच्यते।।

सांख्य योग में इन पाँच गिनाये गये क्लेशों को जिन नामों से कहा गया है वे क्रमात इस प्रकार हैं–(1) तम, (2) मोह (3) महामोह (4) तामिस्र और (5) अन्धतामिस्र। चूंकि ये सब अविद्या अथवा अज्ञान से जन्य हैं। अतः ये ही संसार चक्र के मूल कारण कहे गये हैं।

(21) श्री गुरुणां कृपा ह्येषा, निमित्तीकृत्य मां च वै।
स्वयं वक्ति स्वयं कुरुते, अभिष्टामि कृपामिमाम्।।

श्री गुरुदेव की ही यह सब कृपा है। मै तो मात्र निमित्त बना बैठा हूँ। वे स्वयं ही बोलते हैं, स्वयं ही करते हैं, उनकी इस कृपा की मैं वन्दना और स्तुति करता हूँ।

* * *

नैतिक शिक्षा और योग

वासुदेव शर्मा प्रभारी, योग प्रशिक्षण केन्द्र, (द० प० दिल्ली)

आज के भौतिक युग में वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव बाहरी जगत में सर्वत्र दिखायी पड़ता है। एक ओर जहाँ मनुष्य ने भोग विलास एवं मनोरंजन के प्रचुर साधन एकत्र कर लिए हैं, वहाँ नैतिक मूल्यों का तीव्रगति से पतन सारे विश्व में चिन्तन का विषय है। भ्रष्ट आचरण, अनुशासनहीनता नकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा एवं व्यक्तिवादी संकीर्णता के कारण सामाजिक व्यवस्था दिन–प्रतिदिन ध्वस्त हो रही है।

सम्पूर्ण विश्व के शिक्षाविद् आज इस बात को स्वीकारने लगे हैं कि हमारी शिक्षा पद्धति में कहीं कोई दोष है। वह दोष क्या है ? इसका कारण हमारे मनीषी आसानी से ढूंढ सकते हैं क्योंकि इसका समाधान हमारी प्राचीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में है। हमने पाश्चात्य जगत की शिक्षा पद्धति का सीधा अनुकरण करके बहुत बड़ी भूल की है, इसका नकारात्मक प्रभाव आज हमारे रहन–सहन, व्यवहार और जीवन–मूल्यों पर स्पष्ट दिखायी पड़ता है। हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पाश्चात्य जगत से भिन्न रही है। पाश्चात्य वैज्ञानिक सम्पूर्ण सृष्टि का आधार केवल जड़ (अचेतन) पदार्थ को मानते हैं। उनका सारा चिन्तन और अनुसन्धान जड़ पदार्थों को विकसित कर उनके उपभोग तक ही सीमित रहा है जबकि हमारा दर्शन जड़ और चेतन दोनों को भिन्न मानता है तथा इन दोनों का सार्वभौमिक विकास ही हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति का लक्ष्य रहा है। यद्यपि दोनों के विकास का क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न है, जड़ का सम्बन्ध बाह्य जगत से है, जबकि चेतना (चित्तशक्ति) का सम्बन्ध अन्तर्जगत से है। बुद्धि, चित्तशक्ति एवं बाह्य जगत (दोनों के विकास का साधन है। चित्तशक्ति के विकास के बिना बाह्य विकास निरर्थक और विनाशकारी है। चित्तशक्ति ही परमचेतना है जो कण–कण में विद्यमान है। **''चेत्यते विमृश्यते परं तत्व मनने इति चित्तम्''** अर्थात् परमतत्व का स्फुरण एवं संवेदन चित्त में ही होता है। जब चित्तशक्ति संकुचित हो जाती है तो वह प्रकृति की उपाधि से युक्त 'चित्त' बन जाता है। चित्त युक्त चैतन्य ही जीव कहलाता है जीव में जानने की इच्छा प्रमुख रूप से होती है। क्योंकि वह चैतन्य का धर्म है। चैतन्य अंश के कारण चित्त में चित्तशक्ति के धर्म आ जाते हैं अन्य प्राणियों से मनुष्य चैतन्य अंश की समानता होते हुए भी बुद्धि तत्व के कारण प्रधानता रखता है अन्य प्राणियों का चित्त अविकसित अवस्था में होता है। एक शिशु का चित्त भी पशुओं के समान अविकसित अवस्था में होता है। हमारे ऋषियों ने चित्तशक्ति के विकास का एक क्रमबद्ध एवं प्रमाणित विज्ञान विश्व को दिया है जिसे हम **'योग'** कहते हैं।

चित्तशक्ति के विकास के लिए मन और बुद्धि का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। कठोपनिषद् कहता है कि हमारी पंचेन्द्रियाँ प्रतिक्षण बाह्य जगत में संलग्न रहती है और अपने विषयों का उपभोग करती रहती

है लेकिन कोई–कोई धीर पुरुष अपने नेत्रों को बन्द करके अन्तर्जगत में प्रवेश करता है और अमृत का पान करता है। बुद्धि के अन्तर्मुखी होने के साथ ही चित्त के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, चित्त में सत्व गुण की प्रधानता है। जैसे–जैसे मनुष्य ध्यान के द्वारा अपने चित्त का विकास करता जाता है उसमें नैतिक गुण स्वतः ही विकसित हो जाते हैं। और वह पशुत्व से ऊपर उठता जाता है। योगदर्शन चित्त की अवस्था के आधार पर पांच प्रकार के मनुष्यों का वर्गीकरण करता है–

(1) मूढ़ावस्था–इस अवस्था के लोगों में तमोगुण की प्रधानता होती है। चित्त अविकसित अवस्था में होता है इसलिए सत्वगुण का प्रकाश नहीं होता। इस प्रकार के मनुष्यों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या व अन्य नकारात्मक संवेगों की अधिकता होती है। ये अधिकांशतया विध्वंसकारी कार्यों में संलग्न रहते हैं। समाज की प्रगति में इनका कोई योगदान नहीं होता। यह अवस्था निम्न श्रेणी के लोगों की है।

(2) क्षिप्तावस्था–इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता रहती है, तमोगुण व सतोगुण दबे हुए गौणरूप से रहते हैं। इस अवस्था के लोगों में बुद्धि बाह्य जगत की प्रगति में लगीरहती है लेकिन वातावरण के अनुसार धर्म–अधर्म, राग–विराग, ज्ञान–अज्ञान, ऐश्वर्य–अनैश्वर्य एवं पाप–पुण्य में परिवर्तित होती रहती है। जब तमोगुण, सत्वगुण को दबा लेता है तब अधर्म, अज्ञानादि में और जब सत्व, तम को दबा लेता है तब धर्म व ज्ञानादि में प्रवृत्ति होती है। बुद्धि बाह्यमुखी होने के कारण चित्त का विकास नहीं होता, इसलिए अनैतिक कार्यों में सहज ही प्रवृत्त हो जाते हैं। अधिकांश लोग इसी श्रेणी में आते हैं।

(3) विक्षिप्तावस्था–इस अवस्था में सत्वगुण प्रधान होता है, रज तथा तम दबे हुए गौण रूप में रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ–मोहादि के छोड़ने से उत्पन्न होती है इस अवस्था में सत्वगुण कम अल्प प्रकाश बना रहता है इसलिए मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, त्याग, परोपकार और ऐश्वर्य में लगी रहती है, परन्तु रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था योगी की प्रथम अवस्था है क्योंकि इसमें अन्तर्मुखता प्रारम्भ हो जाती है। बाहर के विषयों के गुणों से चित्त पर उनका प्रभाव पड़ता रहता है लेकिन निरन्तर ध्यान के अभ्यास से मनुष्य इनके प्रभाव से स्वयं को बचा सकता है।

इस अवस्था में व्यक्तित्व में दृढ़ता आ जाती है। इसलिए मनुष्य सहज ही अनैतिक कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता।

(4) एकाग्रावस्था–जब ध्यान के अभ्यास से एक ही विषय में सदृश वृत्तियों का प्रवाह चित्त में निरन्तर बहता रहे तब वह एकाग्रावस्था होती है। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है, इसमें सत्वगुण का प्रकाश पूर्णरूपेण रहता है तथा रज व तम का प्रभाव नहीं होता, यह अवस्था उच्च श्रेणी के योगियों की होती है, इसमें परमाणुओं से लेकर महत्तत्व पर्यन्त, ग्राह्य ग्रहण और ग्रहीत विषयों का यथार्थ साक्षात्कार हो सकता है। एकाग्रावस्था को सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।

(5) निरुद्धावस्था—जब एकाग्रावस्था की स्थिति दृढ़तर होती जाती है, तब विवेक ख्याति द्वारा चित्त और पुरुष का भेद साक्षात हो जाता है तथा पर–वैराग्य का उदय होता है। यद्यपि विवेकख्याति भी चित्त की एक वृत्ति है इस वृत्ति के भी निरुद्ध होने पर अर्थात सर्ववृत्तियों के निरूद्ध होने पर जो अवस्था होती है उसे निरूद्धावस्था कहते हैं। यह योगी की उत्कृष्ट अवस्था है जो कि उसका लक्ष्य है। इस अवस्था को **असम्प्रज्ञात समाधि** भी कहते हैं।

उपरोक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त का विकास किये बिना नैतिकता की बात निर्मूल है। आज सर्वत्र यही हो रहा है— हमारी शिक्षा पद्धति में भी पाश्चात्य पद्धति की नकल पर चित्त के विकास का कोई मार्ग नहीं है। आज बुद्धि का प्रयोग केवल बाह्य जगत के उत्थान पर ही केन्द्रित है इसलिए सारा विकास एकांगी है। जब तक मनुष्य मूढ़ावस्था व क्षिप्तावस्था से ऊपर नहीं उठेगा उस पर नैतिकता के उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हम बच्चों को उपदेश करते रहते हैं कि सदैव सत्य बोलो, ईमानदार बनो, चरित्रवान बनो आदि–लेकिन जैसे ही बच्चा कक्षा से बाहर कदम रखता है और अपने चारों ओर अनैतिक आचरण को देखता है तो वह स्वयं भी प्रभावित होकर उसमें लिप्त हो जाता है। समाज के नकारात्मक प्रभाव से वह सब उपदेश भूल जाता है। क्योंकि उसके चित्त में सत्व का प्रकाश उत्पन्न नहीं हुआ है, उसमें दृढ़ता नहीं है क्योंकि उसे अन्तर्दर्शन का अभ्यास नहीं कराया गया है। आज उपदेश देने के साथ–साथ ध्यान के द्वारा उसे क्षिप्तावस्था से ऊपर उठाने की आवश्यकता है। विक्षिप्तावस्था में पहुँचकर वह स्वत: ही नैतिक आचरण करने लगेगा उसके ऊपर समाज के नकारात्मक पक्ष का प्रभाव नहीं पड़ेगा। उदाहरण के लिए मोहनदास कर्मचन्द गाँधी परीक्षा भवन में शिक्षक के द्वारा नकल करने के लिए प्रेरित करने पर भी उसे अनैतिक समझकर मना कर देते हैं—यह है नकारात्मक वातावरण के प्रभाव से अप्रभावित रहना। इस प्रकार चित्त में ध्यान के द्वारा सत्व का प्रकाश उत्पन्न कर हम अपने बच्चों को आदर्श नागरिक बना सकते हैं।

महा प्रलय में जीव न विचरता है और न ईश्वर में मिल जाता है। रात्रि आने पर जैसे सब सो जाते हैं, वैसे ही सारे जीव अचेत अवस्था में चले जाते हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि एवं योग

—पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

मानव जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियों में बारम्बार जन्म—मरण रूप कष्ट को भोगकर तथा अनेकों यातनाओं को सहनकर हमें यह देवदुर्लभ मानव जीवन प्राप्त हुआ है। जिसमे मानवमात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की साधना अपेक्षित है। इन चारों में भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन करना मानव जीवन का परम एवं चरम पुरुषार्थ है। क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी को इस योनि में रहते हुए कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। अन्य सभी योनियाँ भोग योनियाँ हैं। जहाँ जीव अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों को भोगता है, यहाँ तक कि देवयोनि भी योगयोनि ही है। देवता अपने पुण्यकर्मों के उपभोग के लिए ही देवयोनि को प्राप्त करते हैं। जब तक पुण्यों का प्रभाव रहता है, तब तक वे नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करते हैं और पुण्यों के क्षीण होने पर उन्हें पुनः मर्त्यलोक में ही जीवन धारण करना है।

''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति''

मनुष्य योनि कर्मयोनि है। जहाँ मानव मोक्ष की प्राप्ति के लिए हर सम्भव प्रयत्न कर सकता है। वह अपने प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्मों के समुदाय रूप कर्माशय को पूर्णतया नष्ट करके इसी जीवन में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस परम दुर्लभ मानव देह को प्राप्त करके भी यदि जीव नित्य शुद्ध सच्चिदानन्द व परब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करके संसार के अनित्य भोगों में फंसा रहकर अपना अमूल्य जीवन गंवा दे, तो इसे उसका महान दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। इस जन्म के बाद उसे मनुष्य शरीर मिलेगा भी कि—नहीं ? कुछ कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार अनन्तकाल तक वह जीवन—मरण रूप यातनाओं से मुक्त नहीं हो सकता।

अतः मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति ही होना चाहिए। जीवन्मुक्ति अथवा कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीन मार्ग प्रतिपादित किये गए हैं :

भक्ति, ज्ञान एवम् योग।

ये तीनों एक दूसरे पर आधारित हैं। भक्ति और ज्ञानयोग के ही अंग हैं। अष्टांग योग में **''ईश्वर प्रणिधानाद्वा''** कहकर भक्ति को योग का एक अभिन्न अंग माना है।

सन्त तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में जो नवधा भक्ति का वर्णन किया है, वह वस्तुतः पूर्णयोग है, श्री रामचन्द्रजी अपने श्रीमुख से शबरी को भक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं :

नवधा भगति कहउं तोहि पाँही,
सावधान सुनु धरु मन माही।।
प्रथम भगति संतन कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरुपद पंकज, सेवा।
तीसरि भगति, अपान।
चौथि भगति मम गुण गन
करइ कपट तजि गान।।
मन्त्रजाप मम दृढ़ विश्वासा।
पंचम भजन सो वेदप्रकाशा।।
छठ दम शील विरति बहु करमा।
निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सप्तम सम मोहि मय जग देखा।
मोतें सन्त अधिक करि लेखा।।

आठव जथालाभ सन्तोषा।
सपनेहुं नहि देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना।।

योग के बिना मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः शास्त्रों में कहा गया है :

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि
धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
बिना देहेन योगेन न
मोक्षं लभते विधे।।

जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्रजी अर्जुन को योग की महिमा बताते हुए उसे योगी बनने का उपदेश देते हैं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुनः।।

भगवान् ने अपने श्रीमुख से यहाँ तक कहा है :

''जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्माऽतिवर्तते।''

अतः जीवन को सुखी बनाने के लिए तथा आत्म साक्षात्कार के लिए योग का आश्रय लेना परम आवश्यक है। आत्मोत्थान एवं आत्मसाक्षात्कार तभी सम्भव है, जब मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाये। क्योंकि जिस प्रकार निर्मल जल में हमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार शुद्ध एवं शान्त अन्तःकरण में ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

अष्टांगयोग के अनुष्ठान से साधक को सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण की शुद्धि कर लेनी चाहिए। तभी उसे योग और मोक्ष सुलभ हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि अन्तःकरण क्या है ?

मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार इन चारों के समुदाय को अन्तःकरण कहा जाता है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम हमारा आहार एवं विहार शुद्ध तथा सात्विक होना चाहिए। गीता में इसी बात पर बल दिया गया है :—

युक्ताहार विहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा।।

अर्थात्—दुखों को नष्ट करने वाला यह योग उसी व्यक्ति का सिद्ध होता है, जिसका आहार तथा बिहार ठीक हो, जिसकी कर्मों में युक्त चेष्टा हो तथा जो मनुष्य नियमपूर्वक समय पर सोता है और निश्चित समय पर जाग जाता है।

आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति दृढ़ हो जाती है, जिससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ (गाठें) खुल जाती है। जैसे कहा गया है :—

''आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।''

भोजन से ही मन बनता है। कहावत भी है :— जैसा अन्न वैसा मन।''

आहार के साथ–साथ बिहार अथवा चरित्र भी अन्तःकरण की शुद्धि के लिए उतना ही महत्व रखता है मनुष्य का प्रत्येक दैनिक व्यवहार, प्रत्येक आचरण शुद्ध तथा संयमित होना चाहिए। उसे परोपकारी, उदार, धर्मात्मा तथा कर्मनिष्ठ होना चाहिए। अपने तथा दूसरों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण उदार होना चाहिए, तभी उसका चित्त निर्मल बन सकता है। चित्त के सम्बन्ध में कहा गया है:

चित्तमेव हि संसारस्त—
त्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवित
गुह्यमेतत् सनातनम्।
चित्तस्य हि प्रसादेन
हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा
सुखमक्षयमश्नुते।।

अर्थात्—चित्त ही संसार है। अतः प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है वैसा ही वह बन जाता है। चित्त के प्रशान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और प्रशान्त चित्त वाला व्यक्ति आत्मा में स्थिति लाभ प्राप्त करके अक्षय आनन्द की अनुभूति करता है।

योगाङ्गों के अनुष्ठान से मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार रूप अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है। योग के आठ अंग बताये गए हैं। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवम् समाधि।

यमः

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।

(1) अहिंसा : मन, वाणी तथा शरीर से कभी किसी प्राणी के चिन्हमात्र भी दुःख न देना 'अहिंसा' है।

(2) सत्य : इन्द्रिय और मन से प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके अनुभव के आधार पर हितकर तथा प्रिय वचन बोलना 'सत्य' कहलाता है।

(3) अस्तेय : दूसरों के स्वत्व का अपहरण न करना, पराये धन को मिट्टी के समान समझना तथा परिश्रम एवं न्याय से अर्जित धन का उपयोग करना 'अस्तेय' कहलाता है।

(4) ब्रह्मचर्य: मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।

(5) अपरिग्रह : अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक, धन सम्पत्ति तथा भोगसामग्री का संचय न करना 'अपरिग्रह' है।

नियम :

नियम भी पाँच प्रकार के होते हैं:

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर—प्रणिधान।

(1) शौचः शौच का अर्थ सफाई है। जलमत्तिकादि द्वारा शरीर के बाह्य अंगों की शुद्धि, षटकर्म द्वारा भीतरी अंगों की शुद्धि तथा जप, तप आदि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

(2) सन्तोषः फल की चिन्ता न रखते हुए कर्तव्य कर्म का पालन करते रहते रहना, किसी प्रकार की कामना या तृष्णा का न होना तथा प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना 'सन्तोष' कहलाता है।

(3) तप : गीता में भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया है : शारीरिक तप, वाङ्मयतप तथा मानसिक तप,

शारीरिक तप :

देवद्विजगुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

अर्थात् देव, द्विज, गुरु तथा विद्वान का सम्मान एवं पूजन करना, सब प्रकार की पवित्रता रखना, नम्र रहना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तथा मन, वाणी एवं कर्म से किसी को कष्ट न देना यह शारीरिक तप कहलाता है।

वाङ्मय तप :

अनुद्वेगकरं वाक्यं
सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव
वाङ्मयं तप उच्यते।।

कटु वचन न बोलना, सत्य, प्रिय तथा हितकारी वाणी बोलना एवं निरन्तर स्वाध्याय का अभ्यास करते रहना यह वाङ्मय तप है।

मानसिक तप :

मनः प्रसादः सौम्यत्वं
मौनमात्म विनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्ये
तत्तपो मानसमुच्यते।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन रहना, अपने आप पर नियन्त्रण करना तथा विचारों की पवित्रता इसे मानस तप कहा गया है।

(4) स्वाध्यायः

प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप तथा मोक्षशास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है।

(5) ईश्वर प्रणिधान :

ईश्वर पर अनन्य भक्ति तथा उसकी शरणागति को 'ईश्वर प्रणिधान' कहते है।

आत्मोद्धार की कामना रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन यम–नियमों का पालन करना परम आवश्यक है। यम–नियमों के पालन करने से स्वभावतः ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर आत्मसाक्षात्कार होना सुनिश्चित है। यही बात मुण्डकोपनिषद् में भी दर्शाई गई है :

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

अर्थात्–शरीर के भीतर हृदय में विराजमान, स्वतः प्रकाशस्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को सब प्रकार के दोषों से रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले योगीजन–सत्यभाषण, तपश्चर्या तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही प्राप्त कर सकते है।

विशुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है, यह बताने के लिए पुनः कहा गया है :

यं यं लोकं मनसा संविभाति,
विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्चकामां
तस्मात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।।

विशुद्ध अन्तःकरण व्यक्ति जिस जिस लोक का मन से चिन्तन करता है और जिन जिन भोगों की कामना करता है, वह उन–उन लोकों को जीतता है अर्थात् प्राप्त करता है। तथा उन–उन इच्छित भोगों को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए ऐश्वर्य की कामना करने वाले मनुष्य को चाहिए, कि–वह शरीर से भिन्न आत्मा को जानने वाले विशुद्ध अन्तःकरण विवेकी महापुरुष की सेवा–पूजा करे। क्योंकि वह अपने लिए तथा दूसरों के लिए जो भी कामना करता है। वह अवश्य पूर्ण हो जाती है।

आसनः

योगासनों से शरीर की शुद्धि होती है। शरीर के समस्त मलों का नाश होकर पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम :

प्राणायाम से शरीर से कुपित मल नष्ट हो जाते है। समस्त नाड़ियों का शोधन होकर अन्तःकरण की

शुद्धि हो जाती है और विशुद्ध अन्तःकरण में प्रकाशस्वरूप नित्य शुद्ध आत्मतत्व का साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाम में संलग्न रहने वाले महात्मापुरुष का प्राण चित्त से संयुक्त होकर परमात्मा में स्थित हो जाता है। जिससे ज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्राणायाम के सिद्ध होने पर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं।

यही अष्टांग योग है। त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद में अन्तःकरण की मलिनता का कारण एवं उसकी शुद्धि का उपाय बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं:

जीव अनन्तकाल से अनेकों स्थूल, सूक्ष्म, उत्तम तथा अधम शरीरों को धारण करता हुआ उन–उन शरीरों में प्राप्त होने योग्य अनेकों शुभ–अशुभ प्रारब्ध कर्मों का भोग करता रहता है। जिस कारण उसका अन्तःकरण उन–उन फलों की वासना से लिप्त रहता है। अतः बार–बार उन–उन कर्मों के फलस्वरूप विषयों में ही उसकी प्रवृत्ति होती है, निवृत्ति नहीं होती। उसको अनिष्ट ही इष्ट जान पड़ता है। ब्रह्मसुख की प्राप्ति के लिए उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, क्योंकि उसके स्वरूप का उसे ज्ञान नहीं है। अज्ञान की प्रबलता के कारण मोक्ष का विचार तक जीव नहीं करता।

जब अनेक जन्मार्जित पुण्यों का उदय होता है, तो ईश्वर की अपार कृपा से सत्पुरुषों का संग प्राप्त होता है। जिससे मनुष्य को विधि तथा निषेध का ज्ञान प्राप्त होता है तथा सदाचार में प्रवृत्ति होती है। तब मनुष्य के पापों का नाश होकर अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है। श्री रामचरित मानस में कहा भी गया है:

बिनु सत्संग विवेकु न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

सद्गुरु की कृपा के बिना मनुष्य को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, जबकि सद्गुरु की शरणागति से मनुष्य का समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है और उसकी श्रेयमार्ग में प्रवृत्ति होने लगती है। सद्गुरु के शक्ति–संचार से मनुष्य के विषयों से तीव्रतम वैराग्य हो जाता है तथा उसे सभी प्रकार की योगसिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं अतः योगमार्ग में सफलता के लिए श्री सद्गुरु चरणों में अनन्य श्रद्धा होनी चाहिए। श्री तुलसीदास जी ने श्री गुरुदेव के चरणकमलों का स्मरण करने वाले व्यक्ति को बड़ा भाग्यवान बताया है।

श्री गुरुपद नख मणिगण ज्योती,
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोहतम सोस प्रकासू।
बड़े भाग्य उर आवहि जासू।।

इस प्रकार साधन किये बिना ही अनायास गुरु कृपा प्राप्त कर लेना तथा समाधि लाभ पा लेना 'सिद्धयोग' कहलाता है। जो कि– सिद्धपुरुषों को ही सुलभ हुआ करता है। साधन योग में योग का सांगोपांग अनुष्ठान करना अपेक्षित है। तभी चित्त की शुद्धि होती है।

वस्तुतः शुद्ध अन्तःकरण और योग ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। क्योंकि योग साधना के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि के बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता। अतः योग साधक को सर्वप्रथम यमनियमों का पालन करते हुए अपने अन्तःकरण को सर्वथा शुद्ध कर लेना चाहिये। तभी वह योग का वास्तविक अधिकारी बन सकता है।

* * *

योग, समाधि और व्युत्थान

—पं० राजेन्द्र प्रसाद पाठक

प्रकृति के साथ सहजता से सम्बन्ध स्थापित कर लेने की क्रिया का नाम योग तथा प्रक्रियादि को सहज समाधि कहा गया है। **'योगो मनसः समाधिः'** ऐसा—सुन्दर एवं व्युत्थानावस्था के साथ—सम्बन्ध एवं विच्छेद, आदि को बताया गया है। प्रकृति की निरन्तर क्रियाशीलता के कारण, अवस्था भेद प्रकृति के गुण हैं जिसमें सहजावस्था को सबसे उत्तम बताया गया है तथा विवेचन भी किया गया हि—

''उत्तमासहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा। कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा।।

अतः प्रकृति एवं कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। तीर्थ यात्रा अधमा—अधमा का भाव प्रकृति के साथ कर्म से है न कि स्थान से। स्थान तो उत्तम एवं मध्यम स्वरूप लिये बैठे, प्रकृति के गुण के साथ—साथ तादात्म पाने के सम्बन्ध—समाधि के लिये सर्वदा व्यग्रतः क्रियाशील ही रहता है। अतः योगेश्वर जितेन्द्रिय भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को यौगिक एवं विलक्षण उपदेश रहस्यमय ढंग से देते हुये संकेत किया और कहा **''योग युक्तो भवार्जुन** (८/२६) तथा **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** एवं प्रकृति के सम्बन्ध को सम्बोधन **'तस्मात्सर्वेषु कालेषु'** कह कर किया। योगियों की वाणी बड़ी ही विलक्षण हुआ करती हैं, आदेश देने एवं पालन करने मात्र की 'मार्मिकता' का नाम भी तो योग ही है, इसीलिये तो जगदात्मा ने बताया—

'तस्मात्' और ध्यान दिलवाया 'मात्र—'सर्वेषु कालेषु', अर्थात् 'तस्मात्' तो है तत् सम्बन्धी कारण का विवेचन, और तत् का सम्बोधन प्रकृति से है या काल से कहा नहीं जा सकता; किन्तु **'सर्वेषु कालेषु'** अर्थात सभी काल के कालज्ञ ईश्वर द्वारा प्रतिपादित समय सहजावस्था की व्युत्थान— समाधि के योग, या यूं कहें 'संयोग' सम्बन्ध के कारण एवं करण के स्वरूप के ध्यान मात्र द्वारा **'मनसा पश्यन्ति योगिनः'** जैसे चित्त एवं चिदात्मा के विकारात्मक राग, रूप स्वरूप के बोध तथा अनुराग का एकीकार है। इसीलिये कहा गया **'आरूरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते'** क्योंकि कर्म करने मात्र से कमी का पता चलता है कि मुझमें क्या और कहाँ कामना, ममता आदि की कमी है। यहाँ समझने की बात यह है कि यदि साधक के अन्तर्गत अविवेक है तो संसार या शरीर अपना दीखता है किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो शरीर या संसार अपना नहीं दीखेगा। अविनाशी परमात्मतत्व ही अपना दीखेगा। अतः परमात्मतत्व का विवेचन किया गया—संसार को अपना देखना या न देखना, जिसमें व्यक्ति के पतन एवं उत्थान का कारण निहित है। देखना एवं न देखना चित्त के दो रूप हैं अतः बताया गया—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्।।

(महा० शान्ति० १३/४ आश्वमेधिक० ५१/२९)

उक्त श्लोक के विवेचन में योग की सहज मुद्रायें एवं यौगिकी भाषा का संयोग बड़े ही गूढ़ एवं गुप्त रूप से पिरोया गया है। जैसे श्लोक में द्वय, त्रय शब्द की जगह 'अक्षरम्' या क्षराक्षम् भी कहने से मूल तत्व, उस ईश्वरत्व जीव रूपी श्री प्रभु का बोध अवश्य होता है। उसी प्रकार श्लोक के दूसरे चरण में जीव के ईश्वर में अंश—अंशी के स्वरूप को 'ममेति' क्रिया से बोध कराया गया; जो 'प्राप्नोति' धातु से

सम्बन्ध रखता है। तथा स्थान–स्थान से भेद को दर्शाते हुये संयोग का आश्रयण लेता है। आप लोग स्वयं ही श्लोक के बोधत्व के ज्ञाता हैं, क्योंकि अमृत ही सनातन ब्रह्म है जिससे शाश्वत चित्त का बोध होता है। चित्त की प्रसन्नता ब्रह्म पर ही निर्भर करती है। इसी कारण से व्यक्तिगत स्वभाव की भिन्नता ज्ञानी महापुरुषों में भी होती है। यह ही प्रकृति भेद है जो मन को समाधि में लीन कराता है। रामायण जैसे महानग्रन्थ जिसमें सभी अलंकारों का बोध किया गया है मात्र श्री राम चरित्र के वर्णन से अभिभूषित होते हुये, सभी के पारिवारिक, प्राकृतिक व्यावहारिक सम्बन्धों, का बोध कराती है प्रकरण वश धनुर्धर लक्ष्मण के कर्मों का विवेचन किया जाय तो क्षत्रिय पुरुषत्व से बोधित है। यदि आप विचार करके देखें तो पूर्वकाल के स्त्रियों में पूर्ण पुरुषत्व का अंश मिलता है तथा वर्तमान पीढ़ी के भी अनुकरण, अनुशरण में वही रूप मिलता है। वास्तविकता तो यह है कि पुरुषत्व का पूर्ण श्रेय नारी के श्री यत्व पर निर्भर है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। श्री लक्ष्मण जी जंगल, में भगवान राम–सीता की सेवा में लीन कैसे हैं, आप विचार करें–

'सेवहि लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि॥

(मानस २/१४२/१)

उक्त चौपाई एक प्रकार के योगावलम्बन की भाषा है। कर्मों को मार्मिक ढंग से व्यष्टि (भूत या व्यक्तिगत सम्बन्धी) तथा समष्टि (संसार सम्बन्धी) राग द्वेष को श्री प्रभु के समक्ष व्यक्त करने की कला या भाव का समग्र समर्पण है। आप विचार करें कि शब्द कितने मार्मिक हैं–सेवहि; रघुबीरहि, अविवेकी। किसी किसी विद्वान' ने सेवहि के स्थान पर 'सोवहि' तथा रघुबीरहि के स्थान पर रघुबीरहि एवं 'अविवेकी' शब्द को 'अबिबेकी' आदि शब्द से समर्पित कर श्री प्रभु को स्वयं से स्वयं को अर्पित प्रसून कर चिन्तन किया है यह भी समाधि और व्युत्थान के योग चिन्तन की भाषा है, जिसमें सहजता किञ्चिन्मात्र तो है ही। वास्तविकता तो यह है कि जीव अपने लाभ तथा लाभान्स प्राप्ति के लिये कठिन से से कठिन कार्य की साधना करता है और **'अजपा गायत्री'** जैसे 'हन्सः', शब्द को बारम्बार दुहराता हुआ अपने आत्मा की खोज करता है। यहाँ पर एक महाशय की वार्ता प्रस्तुत है। एक बार एक सज्जन मुझसे प्रश्न किये कि पाठक जी आप तो सिद्धयोग आश्रम से अभिमन्त्रित हैं बतायें कि आप 'य' वाले योग है कि 'ग' वाले योग। उत्तर में मैंने उन्हें केवल इतना ही बताया कि आप तो , 'हैं'–कह ही रहे हैं, अर्थात तीनों बिन्दियां 'हंसः' बाकी तो 'श्री प्रभु' जी एवं महा प्रभु श्री रामलाल जी हैं ही; क्योंकि योग की भाषा गुप्त एवं रहस्यमय हुआ करती है तथा गोपनीयता में ही प्रकृति के पुष्प सहज, सुन्दर एवं आनन्ददायक होते हैं इसी बात को जगत गुरू श्री शंकराचार्य जी महाराज ने बताया कि "भाव में ही सदा अद्वेत होना चाहिये न कि क्रियात्मक व्यवहार में "**भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्**" वास्तविकता तो यह है कि जीव आपने आय संसाधन' के जुटाने एवं प्राप्त करने में मात्र वस्तु विनिमय के बदलने में ही अपनी माधुर्य–चातुर्य के सामने भगवान एवं श्री प्रभु नाम भी स्वार्थमयता से जोड़कर मात्र आनन्द लेते हुये सम्पूर्ण आयु को समाप्त कर बैठता किन्तु उसकी स्वार्थ रूपी गुत्थी ज्यों की त्यो ध री रह जाती है। इस प्रकार गूढ़ वचन को समझाते हुये भगवान ब्रजेन्द्र नन्दन श्री कृष्ण ने बताया कि "जो ॐ इस एक अक्षर ब्रह्म उच्चारण और मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है और सुखमय स्थान पाता है।"

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरण्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ ॥ श्री गीता ८/१३॥

महान योगियों के प्रेरक वचन

डा० विजय सिंह, (गोरखपुर)

किन्हीं संत ने कहा है कि ईश्वर का दर्शन अत्यन्त सुलभ है, यदि साधक को आध्यात्मिक वातावरण ठीक–ठीक प्राप्त हो जाये। आध्यात्मिक वातावरण अर्थात् सिद्ध सद्गुरु की कृपा तथा साधक की तीव्र जिज्ञासा ईश्वर को पाने की। क्योंकि सिद्ध–मार्ग पाकर साधक को गुरु भगवान का सदैव अनुग्रह प्राप्त रहता है। साधक को यह पूर्ण परतीति होना चाहिए कि श्री गुरुदेव ही त्रिगुणातीत ब्रह्म हैं। योगी किरण चन्द्र सद्गुरु की महिमा का उल्लेख करते हुये कहते हैं "त्रिगुण आरम्भ होने से पूर्व जो आदि गुण रहता है, श्री गुरु उसी आदिगुण अर्थात् तमस् में श्वेतवर्ण के रूप में विराजते हैं। यही आदि गुण स्पन्दन के प्रभाव से त्रिगुण में बँटता है। यह रज श्री सद्गुरु को कर्म अर्थात् जीवोद्धार में लगाता है। इसलिए सद्गुरु शक्ति ब्रह्म सद्गुरु से उद्भूत हैं। अतः सर्वत्र सद्गुरु ही प्रकाशित हैं। सद्गुरु और उनकी असीम शक्ति दोनों ही एक–दूसरे के अवलंबन हैं।

कमजोर मनोवृत्ति के साधक यह समझते हैं कि सद्गुरु अपने जीवन के ६०–९० वर्षों में जो कुछ शिष्य के लिये करते हैं, केवल वही सबकुछ है। परन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि सद्गुरु इतने कम समय के लिए अवतीर्ण नहीं होते। सद्गुरु की कार्यधारा और उनकी संकल्प शक्ति हजारों–हजारों वर्षों तक बनी रहती है। वे नाना प्रकार से, योग्य–शिष्य–प्रशिष्यों के माध्यम से काम करते रहते हैं। साधन शक्तिपात का, सद्गुरु की अनुमति के बिना दूसरों में संचार करने की क्षमता उत्पन्न नहीं होती। सद्गुरु की कृपा प्राप्त होने पर अन्य सत्संग की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि सद्गुरु के अनुग्रह से सम्यक में जाग्रत शक्ति स्वयं अन्तर भूमिकाओं को प्रकट करती है। इसीलिए कहा गया है–

"आद्यो श्रद्धा: ततः साधुसंगोऽथ भजन क्रिया"

गुरु प्रदत्त मंत्र का जाप करने की भी अपनी विद्या है। सिद्ध मंत्र प्रति श्वास–प्रश्वास के द्वारा आयत्त कर लेने पर साधक एक मिनट में मात्र ५ से १० बार ही श्वास–प्रश्वास लेता है। आगे चलकर स्वाभाविक कुम्भक की स्थिति में मात्र पर मिनट एक वा दो ही श्वास–प्रश्वास हो पाता है। जितनी मात्रा में कुंभक क्रिया स्वतः होती है श्वास–प्रश्वास घटता जाता है। स्वामी कुलानन्द ब्रह्मचारी ने बताया है कि स्वाभाविक कुंभक में भी मानस जाप करते रहने से साधना शीघ्रता से शिखर की ओर बढ़ती है।

एक बात और है अजपा जाप करने वाले साधकों को जप संख्या रखने की अर्थात बाह्य आलम्बन माला आदि की जरूरत नहीं है। क्योंकि श्वास–प्रश्वास के सहारे नाम जपने से साधक को श्वास–प्रश्वास की संख्या घटती जाती है। इस प्रक्रिया के पालन करने पर श्वास–प्रश्वास ही मंत्र रूप होकर नाद और ज्योति का कारक बन जाया करता है। साधक मंत्र को न जपता हुआ इस स्थिति में द्रष्टा की भाँति इसे अनुभव करता है।

बंगाल के प्रसिद्ध संत श्री विजय कृष्ण गोस्वामी जी का इसबारे में कथन है— श्वास–प्रश्वास में जब नाम (मंत्र) होने लगता है तब किसी–किसी को भयंकर जलन पैदा होने लगती है। मंत्र के साथ यह ज्वाला इतनी तेजी से बढ़ती है कि शरीर के अणु–परमाणु जलने लगते हैं। यह यंत्रणा ही अग्नि–परीक्षा है। प्रकृति तथा संस्कार के भेद से यह अधिकार करती है।

श्वास–प्रश्वास से मंत्र जाप होने पर काम–क्रोध–मद–लोभ आदि विकार बढ़ने लगते हैं। इससे साधक घबड़ा जाता है। परन्तु जब जिस विकार को नष्ट होना होता है तब वह एकाएक प्रबल हो उठता है, दीपक बुझने के पहले जैसे उसकी लौ अचानक भड़क उठती है। साधक उस वक्त रिपु की उत्तेजना में साधन–भजन पर से विश्वास ही खो बैठता है। हर समय उन्हीं विकारों का उन्मत्त भाव जाग्रत रहता है। ऐसी अवस्था में सद्गुरु चरण कमलों में दृढ़ विश्वास तथा मंत्र का अनवरत जाप ही रक्षा करता है। इससे सर्वदा के लिये षट्–विकारों का समूलोन्मूलन हो जाता है।

अजपा की क्रिया आगे चलकर जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्तिकाल में भी चलती रहती है। इसका परिणाम अन्य कृत्रिम साधना की तरह नहीं होता। महात्मा भोलानन्द जी का कथन है—निष्क्रिय परमसत्ता के हृदय को आश्रय बनाकर जो क्रिया विश्व में निरन्तर स्पन्दित हो रही है, अजपा मनुष्य शरीर में उसकी प्रतिच्छाया मात्र है— यह स्वभाव की साधना है। अतः अजपा–विज्ञान को यदि साधक ठीक से करे तो उसे तत्वज्ञान अवश्य होता है। यह साधना जितनी स्वाभाविक है, इसका फल भी उतना ही प्रमाणिक और सहज है।

सिद्धयोग की एक और विशिष्टता है वह यह की सद्गुरु आधार देखकर ही शक्तिपात करते हैं। अगर शिष्य अपने सद्गुरु के बताये जप–साधन को पूर्ण नहीं करता तो गुरु को ही पूर्ण करना पड़ता है अन्यथा ऐसा लापरवाह, शिष्य संकट में फंस जाता है। दूसरी ओर शिष्यों के संकट को दूर करने का अर्थ है, ईश्वर–प्रदत्त नियम में व्यवधान डालना, जिसके कारण सद्गुरु को शारीरिक रूप से कष्ट उठाना पड़ता है। जगद्गुरु शंकराचार्य को भगन्दर, रामकृष्ण परमहंस को कैंसर, बुद्ध को आमवात अतिसार, स्मरण करें मानिक चन्द के कर्मों के भुगतान बाबूराम के कर्मों का भुगतान आदि–आदि स्वयं कष्ट सहकर श्री महाप्रभुजी और कहां तक बताए, मेरे अहैतुकी कृपासागर श्री सद्गुरु भगवान अपने बालकों के कर्म जाल का भुगतान किस प्रकार स्वयं अपने काया पर भुगतते रहे है। उनकी गाथा तो व्यास सनकादिक ऋषिगण ही कर सकते हैं। ऋषिकेश में श्री सद्गुरु भगवान अचानक एक दिन अपने ऊपर वाले कक्ष में मुझसे बोले—लल्ला। हमारे तुम सभी बच्चे केवल इस बात का ख्याल किया करो कि जब तुम कोई पाप कर्म करने चलते हो तो मेरे ऊपर एक और 'बोझ डाल दोगे, उसको मेरे को ही ढोना है। अतः गुरु सेवा धन, कपड़ा अथवा बाह्य शारीरिक सेवा से नहीं सफल होगा अपितु प्राणक्रिया के करने से होगा। सद्गुरु भगवान केतिरोधान की तमाम, घटना मात्र इसके कारण था कि वे हम पापियों के परम मसीहा थे। तमाम शिष्यों के ताप–पाप को स्वयं विषपायी शिव की तरह आत्मसात किये। अतः हम सभी को अधिकाधिक उन परम करुणा सागर के पावन–चरणों के चिंतन के साथ प्राणक्रिया रूप अजपा जप करना चाहिए।

* * *

जिनके "राम" जैसे लाल वह हैं प्रभु "रामलाल"

अवनीश कुमार भटनागर (सहारनपुर)

क्यों हमें भी सद्गुरु देव जी की पूजा सबसे पहले करनी चाहिये ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जबकि हम शास्त्रों के माध्यम से यह देखते हैं कि समस्त महापुरुष महाशक्तियों बल्कि यहाँ तक कि साक्षात् ईश्वरावतारों ने भी इस धरा धाम पर आकर श्री सद्गुरुदेव की पूजा वन्दना की और श्री सद्गुरुदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग का ही अनुसरण किया फिर चाहे वह भगवान श्री राम हों या फिर भगवान श्री कृष्ण, जगदम्बा पार्वती हों या फिर शंकर अवतारी श्री हनुमान जी अथवा प्रथम पूजित भगवान श्री गणेश जी।

वास्तव में भगवान शिव ही आदि सद्गुरु देव हैं क्योंकि उनके द्वारा ही सृष्टि का कल्याण उत्थान एवं निर्वाण होता है। भगवान श्री शिव एवं उनके अंशावतार योगेश्वर व योगाचार्य लोग समय–समय पर भूमि पर प्रकट होकर सृष्टि कल्याण के कार्य को संचालित एवं प्रसारित करते रहते हैं। भगवान शिव सनातन देवों से भी पुरातन हैं न उनका आदि है न उनका अन्त। सर्वशक्तिमान श्री सदाशिव का जब यह संकल्प बना। **"एकोऽहम बहुस्याम"** तो देव सृष्टि मानव सृष्टि, एवं दानव सृष्टि अस्तित्व में आई। श्री शिवमहापुराण में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि भगवान शिव ही श्री सद्गुरुदेव हैं, श्री सद्गुरु देव एवं शिव में कोई भेद नहीं है। सद्गुरु देव की पूजा भगवान शिव की पूजा है। और शिव की पूजा सद्गुरुदेव की पूजा है। **"जो गुरू है वही शिव कहा गया है और जो शिव है वह गुरू माना गया है। विद्या के आकार में शिव ही गुरू बनकर विराजमान हैं। जैसे शिव हैं वैसी विद्या है जैसी विद्या है वैसे गुरु हैं। शिव विद्या गुरू के पूजन से समान फल मिलता है। शिव सर्व देवात्मक हैं और गुरू सर्वमन्त्रमय"**

(शि०पु०वा०सं०)

हमें जिन शिव अवतारी योगेश्वर की चरण शरण एवं छत्र छाया मिली उनको हम परम करुणामय योगेश्वर श्री रामलाल महाप्रभुजी एवं साक्षात् परब्रह्म मय आनन्दकन्द श्री चन्द्रमोहन महाप्रभु के नाम से जानते हैं हमारी गुरू परम्परा शिव के संकल्प से ही अस्तित्व में आई हमारे दोनों सद्गुरुदेव साक्षात् परम शिव है।

देवता, मानव, दानव सभी तो सद्गुरू देव की महत्ता एवं सर्वशक्तिमत्ता के आगे नतमस्तक होते आये हैं। पहले देवताओं में ही लीजिये श्री गुरुदेव ब्रहस्पति जी देवताओं के सर्वमान्य एवम् परम पूज्य सद्गुरु देव हैं। अब ईश्वरीय महाशक्तियों में प्रथम पूजित भगवान श्री गणेश जी द्वारा अपने माता पिता की पूजा करके उनकी परिक्रमा करने का वर्णन शास्त्रों में आता है। और यह भी एक अकाट्यसत्य है कि जीव के प्रथम गुरू उसके माता पिता ही होते हैं वह जो भी संस्कार जीव में डालते हैं वह जीवन पर्यन्त उसका साथ देते है और भावी प्रारब्ध का कारण बनते हैं। आगे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम की गुरू भक्ति की बात आती है। भगवान श्री राम ने अपने जीवन में गुरू आज्ञा को सदैव शिरोधार्य किया। गुरूदेव ब्रह्म ऋषि वशिष्ठ जी और भगवान श्री राम जी का आपसी संवाद गुणभक्तिमायि कृति योग वाशिष्ठ के रूप में अस्तित्व में आई। आगे भगवान श्री कृष्ण जी की गुरू भक्ति को देखें।

भगवान श्री कृष्ण जी ने अपने शिक्षागुरू गुरूदेव सान्दीपन जी के आश्रम में रहकर विधिवत गुरूसेवा करते हुये विद्या अध्ययन किया और गुरू दक्षिणा में मृत गुरू पुत्र को जीवित अवस्था में लाकर अपने गुरूदेव को दिया। आगे के चरित्रों में ऐसा आया है कि वायु देवता के परामर्शानुसार तत्वज्ञ, ब्रहम निष्ठ, सिद्धपुरूषों का सत्संग किया और गुरूदेव उपमन्यु जी से विधिवत पाशुवत ब्रत की दीक्षा ग्रहण करके उनके शिष्यत्व को स्वीकार किया। अब देखिये आदि शक्ति पार्वती दुर्गाजी के द्वारा किस प्रकार श्री गुरूदेव एव गुरू मार्ग

का अनुसरण किया गया। भगवती श्री पार्वतीजी ने भगवान शिव को पति रूप में पाने के लिये अनेकों अति कठिन अनुष्ठान किये परन्तु सफलता नहीं मिली अन्त में योगिराज नारद जी को गुरूदेव रूप में स्वीकार किया फिर गुरूदेव नारद जी द्वारा प्रदत्त शिव पंचाक्षरी मंत्र का जाप करते हुये वन में जाकर दुष्कर तप किया तब जाकर भगवान शिव के वामांग में स्थान प्राप्त किया। परम प्रतापी रामभक्त श्री हनुमान जी ने ग्यारहवें रुद्र होते हुये भी भगवान सूर्य देव का अपने गुरूदेव के रूप में पूजन वन्दन किया और उनसे समस्त विद्याओं को प्राप्त किया और इस उक्ति को चरितार्थ किया **''गुरू बिन भव निधि तरै न कोई जो विरंचि शंकर असहोई''**।

अर्थात्– श्री गुरूदेव एवं उनकी कृपा के बिना कोई भी पार नहीं उतर सकता। फिर चाहे साक्षात् ब्रह्मा एवं शंकर ही शरीर धारण करके भूमि पर क्यों न आये हों। अब भगवान शिव ही शेष रहे जिनकी पूजा श्री गुरूदेव भगवान से पूर्व हो सकती है परन्तु भगवान शिव स्वयं ही नहीं चाहते हैं कि उनकी पूजा श्री गुरूदेव से पूर्व हो। महर्षि का भुशुण्डी जी महाराज एक समय भगवान शिव का पूजन कर रहे थे उसी समय उनके गुरूदेव वहाँ पधार गये फिर भी वह शिव पूजन में ही लगे रहे और अभिमान वश श्री गुरूदेव को प्रणाम तक नहीं किया इस प्रकार गुरू अपमान को भगवान शिव सहन नहीं कर सके और तत्काल क्रोधावेश में वहाँ प्रकट हो गये प्रमाण देखें– **''अति अघ गुरू अपमानता सहि नहीं सके महेश्।''** और काक भुशुण्डी जी को अति क्रोध में मारने दौड़े और श्राप देकर बोले **''जो नहीं दंड करौ बल तोरा, भ्रष्ट होई श्रुति मारग मोरा।''** शिव ने गुरू निन्दक या गुरू अपराधी को दंड देना अपना वेदमार्ग बताया है। फिर श्री गुरूदेव ने ही दया करके काक भुशुण्डी जी का अपराध क्षमा कराया और शिवस्तुति की जिसके फलस्वरूप नमामि शमीशान निर्वाण रूपं वाली सिद्ध स्तुति अस्तित्व में आई।

गुरूदेव साक्षात ब्रह्म हैं उनकी पूजा सर्वप्रथम क्यों होनी चाहिये आपने प्रमाण सहित जाना। भगवान श्री राम जी जब महर्षि बाल्मीकि जी से अपने रहने के स्थान को पूछते है तो बाल्मीकि जी श्री रामचन्द्र जी को बताते हैं **''तुम ते अधिक गुरहिं जिय जानी, सकल भाय सेवहि सन्मानी''** हे राम जो भक्त आपसे भी अधिक अपने गुरूदेव को मानते हैं उनके हृदय में तुम्हारा सदैव निवास हो।

उपरोक्त विवरण में हमने यह भली प्रकार जान लिया जब देवता एवं साक्षात् ईश्वरीय महाशक्तियों ने स्वयं श्री गुरूदेव की समय–समय पर चरण वन्दना की है तो कौन सी ईश्वरीय या देव शक्ति (दानवी एवम् मानवी शक्ति की तो सामर्थ्य ही नहीं) जो श्री सद्गुरूदेव से पहले अपनी पूजा को प्राथमिकता देगी।

अब मानवों में देखिये–ऐसा कौन सा मनुष्य है जिसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य ज्ञान के कारण से ही सृष्टि के बाकी जीवों में श्रेष्ठ है, और ज्ञान श्री गुरूदेव के मुख में सुरक्षित रहता है इसलिये प्रत्येक मनुष्य को श्री गुरूदेव की आवश्यकता सदैव रही है और सदैव रहेगी पर प्रश्न यहाँ फिर वही उठता है कि गुरूदेव कैसे हों ? गुरूदेव ब्रह्मनिष्ठ, तत्वज्ञ, सर्व समर्थ, सिद्ध योगिराज होने चाहिये जिनके श्री चरणों के प्रताप से परम कल्याण आत्म उत्थान, अन्त में महानिर्वाण साधक को प्राप्त हो जाता है और दूसरे समर्थ गुरूदेव का कार्य **''शिष्य सन्ताप हरस्य सः गुरू''** अवश्य–अवश्य ही होना चाहिये। प्रसिद्ध गुरू भक्तों में कबीर दास, दयाबाई, सहजो बाई तुलसीदास आदि–आदि सन्त आते हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी की गुरू भक्ति किसी से छिपी नहीं उन्होंने श्री गुरूदेव को नर रूप में नारायण ही कहा है–

''बंदहु गुरू पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि'' तुलसी जी ने जब श्री हनुमान चालीसा की रचना की तो सर्वप्रथम **''श्री गुरूचरण सरोजरज''** करके गुरू चरण वन्दना की और अन्त में तुलसी जी ने जो एक श्रेष्ठ रामभक्त होते हुये भी हनुमान चालीसा के अन्त में वरदान व कृपा मांगते हैं तो न अपने ईष्ट रामजी जैसी कृपा मांगते है और न जिनका चालीसा रचा अर्थात श्री हनुमान जी जैसी कृपा मांगते हैं कृपा मांगी तो

बस श्री गुरूदेव के जैसी और कहा ''कृपा करहु गुरू देव की नाईं''।

एक घटना संक्षिप्त रूप में दे रहा हूँ। जिसमें श्री गुरूदेव की पूजा सबसे पहले करने से कैसा प्रभाव बना यह देखिये। तीन वर्ष पूर्व की घटना है कि भगवद् कृपा से ऐसा संयोग बना कि भगवान श्री सत्यनारायण जी की कथा का आयोजन हम लोगों ने घर पर किया इसमें जो ब्राह्मण देव कथा करने के लिये आये उनको हमने बिलकुल स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि श्री मान सामने जो प्रमुख सिंहासन पर विराजमान हैं वह हमारे सर्वशक्तिमान सद्गुरूदेव हैं। इनका पूजन वन्दन सब देवताओं से पहले होगा।

ब्राह्मण देवता ने वैसा ही किया। ब्राह्मण देवता तो सभी कार्य बताये अनुसार सम्पन्न कराकर अपने निवास को लौट गये और दो दिन पश्चात मुझसे पुन: मिले और बड़ी प्रेमयुक्त वाणी में बोले भटनागर जी तुम्हारे घर में तो तुम्हारे गुरूदेव का निवास है मैंने उत्सुकता वश बहुत जानने की कोशिश की पर पंडितजी ने अतिव्यस्तता का बहाना बना कर बात को टाल दिया और यह कह दिया घटना लम्बी है। बाद में इत्मीनान से बताऊँगा। कुछ दिन बाद मैंने पूछा कि अब बताइये आपने हमारे घर में श्री गुरूदेव का निवास होने की बात क्यों कही थी।

ब्राह्मण देवता भाव विभोर होकर बोले तुम्हारे गुरूदेव बहुत शक्ति वाले हैं पहले हमसे वादा करो कि हमें उनका साहित्य पढ़ने को दोगे मैंने हाँ कर दी फिर उन्होंने बताया जिस दिन हमने तुम्हारे यहाँ गुरुपूजन एवं कथा का आयोजन किया था उस दिन रात्रि मे देखा कि मैं जिस कमरे में बैठा पूजन करा रहा था उसी कमरे में पहुँच गया हूँ और श्री सद्गुरूदेव जी के स्वरूप को बड़े गौर से देख रहा हूँ देखते–देखते उसमें से श्री गुरूदेव बाहर निकलकर वायुमण्डल में खड़े हो गये (संक्षिप्तीकरण के कारण से श्री सद्गुरूदेव एवं ब्राह्मण देव का आपसी वार्तालाप नहीं दे रहा हूँ) और आकाश में बड़े–बड़े ही ब्राह्मण देव को कुछ बातें समझाई और फिर आकाश में उड़ गये और यह कह गये अभी आते हैं तुमसे और बात करेंगे।

थोड़ी देर बाद पुन: करूणानिधान आये और आगे की जिज्ञासायें पंडित महोदय की शान्त की और पुन: उसी स्वरूप में समा गये। मेरे लिये यह परम आश्चर्य बन गया कि पंडित महोदय ने उस रात्रि में जो–जो सामान कमरे में जिस अवस्था में रखा था उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बता दी संयोग से श्री सद्गुरू दरबार उस दिन मन्दिर में पुन: विराजमान करने के बजाय उसी कमरे में विराजमान रहने दिया गया था। और शेष सामान हमने पंडित महोदय के चले जाने के बाद उस कमरे में रखा था जिसके विषय में पंडित महोदय को कुछ भी पता नहीं था। इस घटना के पश्चात पंडित महोदय की श्रद्धा श्री सद्गुरूदेव जी के अलौकिक श्री चरणों में बन गई जो उनके एवं उनके परिवार के कल्याण का कारण बन रही है। यह सब श्री गुरूदेव के सर्व प्रथम पूजन का ही फल रहा होगा जो दया निधान की कृपा दृष्टि हम अधम जीवों की ओर बन गई।

अब दानवों की गुरू भक्ति पर भी दृष्टि डालनी चाहिये। दानव व्यभिचारी, स्वेच्छाचारी, दुराचारी होते हुये भी गुरूपद की मर्यादा रखने का भी पूरा–पूरा प्रयास करते हैं दानवों ने आचार्य शुक्र को अपने गुरूदेव के रूप में स्वीकार किया। आचार्य शुक्र के आर्शीवादानुसार समय–समय पर दानवों को विजय श्री प्राप्त होती रहती है। इसलिये न देवता, न मानव और न दानव गुरू भक्ति बिना कुछ प्राप्त नहीं कर सकते इसलिये कहा गया जीवन में ''**गुरू भक्ति स: दुर्लभ:**'' यानि संसार में गुरू भक्ति एक दुर्लभ वस्तु है।

किसी समय पूज्यपाद, खेचर सिद्ध, योगिराज देव राहा बाबाजी ने अपने श्री मुख से कहा था कि महाप्रभु श्री रामलाल जी जैसी परम महाशक्ति द्वारा हिमालय छोड़कर जनसाधारण के बीच साधारण मनुष्य की भांति प्रकट होना एक आश्चर्यमय कार्य है जिनको इनके श्री चरण प्राप्त हो गये उनका सदैव कल्याण ही कल्याण है। योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी की विलक्षण लीलायें जो ईश्वरीय लीलायें हैं अन्य कहीं भी देखने

में नहीं आता। किसी समय सद्गुरूदेव महाप्रभु श्री चन्द्र मोहन जी महाराज के श्री मुख से यह शब्द प्रकट हुये थे। कि आनन्दकन्द श्री रामलाल महाप्रभु तो **"श्री कृष्ण बनाने वाले हैं।"** परम प्रतापी, शिव अवतारी, महाप्रभु श्री रामलालजी जितने विराट है पर उनका नाम उतना ही साधारण एवं संक्षिप्त सा दिखाई देता है। ऐसा नहीं है ? आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल जी जितने विराट है उनका नाम उनसे भी अधिक विराट है देखें—

"जिनके **"राम"** जैसे लाल है वह है प्रभु **"राम लाल"** अर्थात् जो भी राम व श्री कृष्ण को बनाने वाले है वह बाह्य दृष्टि से भले ही साधारण दिखाई देते हों पर वास्तव में तो सर्वशक्तिमान है। ईश्वर एवम् गुरूदेव में कोई भेद नहीं है **"यथा देवे तथा गुरौः"** सिद्ध अनुभवी सन्त कबीर दास जी के शब्दों में **"गुरू गोविन्द तो एक है दूजा यहु आकार"**। और परम गुरु भक्त दयाबाई कहती है **"सतगुर ब्रह्म स्वरूप हैं मनुष्य भाव मत आन"**। शास्त्रों में वर्णित यह गुरुभक्ति सार सिद्धपुरुषों की सरल वाणी में दिया गया जिसमें श्री सद्गुरूदेव की सर्वशक्तिमत्ता और ईशत्व का पूरा-पूरा संकेत है। उपरोक्त सभी लक्षण वास्तविक सद्गुरूओं के है आजकल तो खैर बनावटी गुरूओं की भरमार है। जो शिष्य का धन तो हरते है पर शोक नहीं। उनके लिये यह उक्ति बिलकुल ठीक है—**"आधा गुरू आंधा चेला, परै नरक में रेलम ठेला"** यहां पर मुझे एक घटना याद आ रही है संक्षेप में देखिये श्री गुरू गोविन्द सिंह जी महाराज ने कलियुग में भ्रष्ट गुरूओं की बात समझाते हुये एक घटना को महत्व दिया। किसी स्थान पर एक अजगर मरणासन्न पड़ा था। पर उसको उस अवस्था में बहुत सारी चीटियां चारों ओर से घेर कर बार-बार काट रहीं थीं। श्री गोविन्द सिंह जी महाराज ने फरमाया यह अजगर पूर्व जन्म में झूठा गुरू था इसने अपने शिष्यों से उनका कल्याण करने का झूठा वादा तो किया पर किसी का भी कल्याण करने की सामर्थ्य इसमें नहीं थी इसलिये कर्मानुसार यह झूठा गुरू ही अजगर की योनि को प्राप्त हुआ और यह सारे शिष्य यह चीटियां और अब इस मिथ्यावादे वाले झूठे गुरू को काट-काट कर अपना बदला ले रहे है और यह मरनासन्न अवस्था में भी भारी कष्ट पा रहा है।

अब दो बातें और संक्षिप्त में कह देना चाहूंगा कि श्री सद्गुरूदेव की कभी भूले से भी निंदा नहीं करनी एवं न सुननी चाहिये दूसरे श्री गुरूदेव की लीला में कभी भूलकर भी दोष नहीं देखना चाहिये एक घटना इसी सम्बन्ध में है उसका स्मरण हो रहा है। महाप्रभु श्री रामलालजी प्रयाग में विराजमान थे। उन्होंने वहां एक मल्लाह जिसका नाम मेडू मल्लाह था उसकी नाव किराये पर ली और सभी शिष्य समाज को त्रिवैणी का भ्रमण एवं दृश्यावलोकन कराया और बिना किराया दिये ही अपने डेरे में आकर विराजमान हो गये। महंत बाल कृष्णदास वैरागी जो प्रारम्भ से ही इस घटना को देख रहे थे मन में सोचने लगे कि श्री महाप्रभु जी ने बिना किराया दिये ही यात्रा कर ली शायद महाप्रभु पैसा देना भूल गये। इतने में श्री रामलाल महाप्रभु जी बोले क्या सोचते हो ? और दस रु. का नोट देकर बालकृष्ण दास ने कहा कि जाओ बेटा मल्लाह को दे आओ। इधर मेडू मल्लाह भी दिव्य दृष्टि वाला था उसने देखा कि महाप्रभु का यह शिष्य बड़ा चतुर है दस रुपये का नोट देकर मेरे द्वारा की गई सेवा को धूल में मिलाना चाहता है उसने बालकृष्ण दास को तुरंत कुष्ठ होने का श्राप दिया जिसका फल बाल किशनदास जी ने जीवन पर्यन्त भुगतान किया। यह है— गुरू लीला में दोष देखने का परिणाम।

विस्तार भय से मैं निरन्तर व्याकुल रहा इसलिये सभी बातों को संक्षिप्त में ही कह सका पर महाप्रभु के विषय में जितना लिखा जाये सब थोड़ा ही थोड़ा रहेगा। ऐसे सर्वशक्तिमान सद्गुरू देव को पाकर सरल शब्दों में यह बात गांठ बांध लेनी चाहिये कि "सातदीप नव खण्ड में सतगुरू से बड़ा न कोई कर्त्ता करे न कर सके सतगुरू करे सो होय।"

पल-पल एक कृपा की प्रतीक्षा....

रामप्रकाश अनुरागी (ग्वालियर)

(एक)

जागत में निर्दोष रहे, जाके,
स्वप्न में भी कोई दोष न आवै,
मान मिले, अपमान मिले,
सम भाव रहे, सम रूप सुहावै,
ऐसा चरित्र है योग का आसन,
ये पद्मासन जो भी लगावै;
ब्रह्म रमे सो ही, ब्रह्म चरै सो ही,
ध्यान में डूब के ब्रह्म के ब्रह्म को पावै।।

(दो)

आसन ही जब पास नहीं तब
योग कहाँ ? जप–ध्यान कहाँ है ??
प्रेम नहीं, विश्वास नहीं है तो,
ब्रह्म का सच्चा ज्ञान कहाँ है ?
केवल काल्पित श्रद्धा है साथ में
पूर्ण समर्पित प्राण कहाँ है ?
सद्गुरु के सद्ज्ञान बिना बोलो,
मानव का कल्याण कहाँ है ?

(तीन)

संयम का कुश आसन डाल के,
सद्गुरु देव को जो भी बुलावै।
चाह की मिसरी सी डेली को जो कोई
श्री चरणामृत में जा घुलावै।
करूणा–कृपा के अजस प्रवाह में,
राग व द्वेष के दाग धुलावै;
सो ही सदा परिपूर्ण को पावै, जो
भीतर का संसार सुलावै।

(चार)

ऐसे कहाँ भैया भाग्य हमारे जो,
योग का पाठ लगें पढ़ने हम,
हम तो दर्पण की चिड़िया हैं जो
खुद से ही रोज लगें लड़ने हम,
संयम तोड़ नियम सब छोड़के,
संयम–नियम लगें गढ़ने हम;
पल–पल एक कृपा की प्रतीक्षा कि
योग की सीढ़ी लगें चढ़ने हम,

हिमालय और गिलहरी

लेखक—राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

एक बार 'हिमालय' को अपनी विशालता और उपयोगिता पर अति अभिमान हो गया था। क्या करता बेचारा ? ये आत्मप्रशंसा रोग ही ऐसा है, सीधा बुद्धि पर प्रहार करता है। लोग मुझे भारत का गौरव कहते हैं, किसी ने 'प्रहरी' कहा है किसी ने 'मार्ग दर्शक'। श्रेष्ठ साहित्यकारों ने अपनी उत्कृष्ट साहित्यक रचनाओं में मेरी अनेकों विशेषताओं का उल्लेख किया है। मेरे अपूर्व सौन्दर्य ने किस श्रेष्ठ कवि को आकृष्ट नहीं किया? विद्वान पुरुषों ने मुझे मानव हित के लिए कितना उपयोगी सिद्ध किया है ! इस प्रकार की कल्पनाऐं करने में हिमालय को विशेष आनन्द प्राप्त होता था। कभी अपने विशाल शरीर को देखकर खुश होता कभी अपनी आश्चर्यजनक ऊँचाई पर गर्व अनुभव करता और कभी अपनी भौतिक समृद्धि में उन्मत्त हो झूम—झूम उठता था। एक रोज अभिमानी हिमालय की दृष्टि अपने विशाल हृदय—स्थल पर फुदकती एक गिलहरी पर पड़ी। गिलहरी के तुच्छ आकार पर वह जोरदार ठहाका लगाकर हँसा। उसकी विकृत हँसी से समूचा गगन मण्डल कम्पायमान हो उठा। शान्त स्वभाव की विवेकपूर्ण गिलहरी ने उपेक्षा करते हुये हिमालय की इस अशिष्टता पर कोई ध्यान नहीं दिया। अब प्रतिदिन ऐसा ही होने लगा वह गिलहरी को देखते ही उसके छोटेपन का उपहास करने में कोई कसर नहीं छोड़ता था। एक दिन मधुर स्वभाव की गिलहरी से नहीं रहा गया उसे हिमालय की अज्ञानता पर बहुत दुःख हुआ उसने सोचा इस सहानुभूति के पात्र को कुछ अच्छी शिक्षा दे ही देनी चाहिए। गिलहरी ने शिष्टाचार अपनाते हुये बड़े आदर के साथ कहा—

हे समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ पर्वतराज ! निः सन्देह तुम्हारी विशालता और सम्पन्नता की तुलना में कोई दूसरा दृष्टिगत नहीं होता। तुम्हारी श्रेष्ठता पर मुझे गर्व है। वास्तव में तुम्हारे विराटत्व के समक्ष मेरा अस्तित्व नगण्य सा ही है किन्तु मेरी तुच्छता पर तुम्हारे द्वारा उपहास करना तुम जैसे श्रेष्ठ पर्वतों को कभी शोभा नहीं देता। वैषम्यतापूर्ण ईश्वर की सृष्टि में विरोधी गुणों की सन्तुलित अवस्था में ही सृष्टि का सन्तुलन है। छोटा—बड़ा, अमीर—गरीब होना स्वाभाविक घटना है जिसमें सभी का अपना—अपना अस्तित्व और महत्व है। अब देखो न, मुझमें और तुममें ही कितना अन्तर है। तुम्हारी दृष्टि केवल भौतिक अन्तर को ही दिखला सकी। तुमने जो अन्तर देखा वह अज्ञानी पुरुषों की भाँति देखा है अज्ञानता के होते शाश्वत सत्य के दर्शन नहीं होते। अब तुम मेरी दृष्टि से स्वयं को पहिचानने की चेष्टा करो। तुम निठल्ल एक स्थान पर पड़े रहते हो कुछ कर्म नहीं करते। ईश्वरानुग्रह से प्राप्त हुई सम्पदा पर तुम व्यर्थ ही इतना अभिमान करते हो।

तुम्हारा अपना क्या है कभी विचार किया है तुमने ? आदिकाल से ही मनुष्य इस दुष्प्रकृति से प्रभावित रहा है। जो कुछ भी अपने आस—पास देख लिया उसको ही अपना समझ लिया। भगवान की वाणी है कि जीवात्मा मेरा ही अंश है। जब हम सब उसी परम् ब्रह्म परमात्मा के हैं और प्रकृति भी उनसे ही उत्पन्न है, फिर सृष्टि में हमारा अपना क्या है भला ? पुरुष और प्रकृति के संरक्षक वे परम् परमेश्वर ही केवल हमारे अपने हैं उन्हीं को प्राप्त करना सभी का लक्ष्य होना चाहिए। प्रभु जी ने सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के

लिए मनुष्य को कुछ साधन प्रदान किये किन्तु खेद है उसकी मूर्खता पर वह उन सुख–साधनों में ही आसक्त हो गया। नदी के दूसरे किनारे पर पहुँचने के उद्‌देश्य से नाव में बैठने वाला व्यक्ति यदि नाव के प्रति मोह उत्पन्न होने पर नाव से उतरना ही नहीं चाहेगा तो क्या वह कभी नदी पार कर पायेगा ? पार जाने के लिए जैसे नौका का प्रयोग अन्तत: त्याज्य है इसी प्रकार भवसागर से पार उतरने के लिए संसार रूपी नौका का त्याग तो करना ही पड़ेगा अर्थात जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु गीता के कर्म सिद्धान्तानुसार सांसारिकता का उपभोग करना जितना अनिवार्य है उतना ही इसका मन से त्याग भी। अत: संसार की समस्त वस्तुओं, भौतिक क्रियाकलापों तथा परम्पराओं से भावनात्मक सम्बन्ध बनाकर इनकी उपलब्धियों पर व्यर्थ अभिमान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अभिमान तो ईश्वर की सर्वव्यापकता, महानता, महज दयालुता तथा उनके अनन्त ऐश्वर्यों पर करना चाहिए जिससे आत्मिक विकास प्रबल हो और भौतिक सुखानुभूति के बन्धन ढीले हों।

हे हिमाद्रि ! तुम अभागे मनुष्य की मनोवृत्तियों को चुनने की कोशिश मत करो। मनुष्य के द्वारा सभी कर्म भौतिक उपलब्धियों को लक्ष्य बनाकर किये जाते हैं जो उसे जटिल कर्म बन्धन में बाँध लेते हैं। समस्त सांसारिक कार्य आसक्ति रहित होकर करने चाहिए तभी ऊँचाई प्राप्त करने का आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त होता है। नहीं तो नीचे तो प्रतिक्षण गिर ही रहे हैं। दिव्य लक्ष्य से प्रेरित होकर पुरुषार्थमय कर्म ही श्रेष्ठ कर्मों की श्रेणी में आते हैं जो जीवात्मा को भवबन्धन से मुक्त करने में सहायक होते हैं। किन्तु दु:ख है, मनुष्य को इस वैज्ञानिक युग में इन सिद्धान्तों में कोई विश्वास नहीं रह गया है।

सन्त महापुरुषों द्वारा लाख चेष्टाओं के बावजूद भी उसके कर्मों में स्वार्थ परायणता ही निहित है। कर्तव्यपरायणता उपदेश बनकर उसकी वाणी में तो है किन्तु उसके आचरण में लेशमात्र भी नहीं। इस पृथ्वी पर तुम्हारे जैसे ही अनेक मनुष्य हैं जो अपनी अतिशय सम्पदा के अहंकार में आकार असंख्य कमजोर और असहाय लोगों को कीड़े–मकोड़ों जैसा समझकर उनका उपहास उड़ाते हैं, शोषण करते हैं। भौतिक समृद्धि का पक्ष अवश्य भिन्न–भिन्न है किन्तु संवेदनात्मक पक्ष सभी का समान है। अर्थात सुखानुभूति–दुखानुभूति प्रत्येक जीव का स्वाभाविक गुण है। इसीलिए ज्ञानीपुरुषों ने कहा है कि जो व्यवहार हमें अपने लिए पसन्द नहीं है उसे दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए।

धन मनुष्य की आवश्यकता बनते–बनते अब शान और सामाजिक प्रतिष्ठा की वस्तु बन चुका है। धनिक वर्ग पहले से भी कई गुना अधिक कमाने की सोच रहा है। शेष इन धनवानों के सामानान्तर आने के लिए दिन–रात प्रयत्न कर रहे हैं। इन्हें तो अपनी वासनाओं को तृप्त करने के लिए बस केवल धनरूपी जल का संचय करना है जल शुद्ध कूप का है या मलयुक्त पोखर का यह अन्तर करने के लिए इनके पास न विवेक है न समय। धनलोलुपता की अग्नि में सारा संसार सूखे जंगल की तरह जल रहा है। धर्म को पनपने देने की कहीं पर भी गुंजाइश नहीं है। अधर्म के जटिल जाल में प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति अपनी वासनात्मक वृत्तियों के कारण बुरी तरह से फँसा हुआ है। यह जाल किसी मकड़ी ने नहीं बुना है इसे मनुष्य स्वयं बुन रहा है। मिथ्या सुख के लिए किया गया उसका प्रत्येक कर्म उसके जाल का एक नया फन्दा बन जाता है। हम सभी पिछले असंख्य जन्मों के कर्म फलस्वरूप भयंकर जाल में फंसे हुये हैं। कोई बिरला ही ईश्वर की महान कृपा से पतनकारी जाल (शुभाशुभ कर्म बन्धन) से मुक्त हो पाता है।

हे पर्वतराज ! जानते हो इसका कारण क्या है ? इसका यथार्थ कारण केवल 'अविद्या' ही हो सकता है अन्य कुछ नहीं। जहाँ ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम, समर्पण और उनके धर्म के प्रति उपेक्षा होती है वहाँ के विषय--भोगी जन--समुदाय पर अविद्या निर्भय होकर एकछत्र शासन करती है। अविद्या से उत्पन्न छः प्रकार के मलों, राग, ईर्ष्या, परापकार, असूया, द्वेष तथा अमर्श ने मनुष्य के आत्मा मण्डल को जकड़ लिया है। इन मलों के प्रभाव से ही उसका चित्त मलिन तथा विक्षिप्त हो गया है। बुद्धि क्षीण हो गई है। सत्य को प्रत्यक्ष करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। अज्ञानी मनुष्य धर्म को तो जानता है किन्तु उसके मौलिक स्वभाव से परिचित न होने के कारण ईश्वर को समझने की उसकी समस्त चेष्टाऐं उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार उस मूर्ख की चेष्टाऐं जो रात्रि के घोर अन्धकार में सूर्य को ढूंढने के लिए निकला है। किसी भी देश की सरकार हो अथवा प्रजा उपर्युक्त छः प्रकार के मलों से सभी प्रभावित हैं। क्योंकि उन्होंने योग विद्या (धर्म) को व्यर्थ का श्रम समझ कर ईश्वर से वास्तविक प्रेम नहीं किया है। ऐसे लोगों की भावनाऐं पवित्र न होने से इनके कर्म कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकते। अत्याधुनिक युग में अनैतिकतापूर्ण कार्यों से व्याप्त हम जिस दुःखरूप गन्दगी को सर्वत्र देख रहे हैं। ये सब अविद्यावशात मनुष्यों की दुर्बुद्धि के ही तो परिणाम हैं। कैसे हो धर्म (मानवता) का विकास ? प्राचीन धर्मशास्त्रों में बतलाया गया है कि-- **''धर्मो रक्षति रक्षितः।''** अर्थात जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। लेकिन मुश्किल तो यह है कि अज्ञानी धर्मयुक्त चर्चा ही सुनना पसन्द नहीं करता, धर्म की रक्षा कौन करे ? किसी देश के समस्त लोग यदि धर्मयुक्त कर्म करने वाले हों तो धर्म स्वयं ही उस समग्र देश का रक्षक हो जायेगा। हे श्रेष्ठ हिमगिरि ! तुम्हारे अन्दर मनुष्यों के जैसे विकारों की दुर्गंध पाकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ है।

शक्तिसम्पन्न व्यक्ति पर अभिमान शोभा नहीं पाता। तुम करोड़ों लोगों का आश्रय हो, तुम से मानव जाति प्रफुल्लित है। तुम्हारे अभिमान पूर्ण व्यवहार से तुमसे आश्रित समस्त प्राणी अपने जीवन से हाथ धो बैठेंगे। यह तुम्हारे लिए घोर पतन का कारण होगा। मनुष्यों में पाया जाने वाला अहकार नामक विकार असंख्य दुर्गुणों को जन्म देने वाला है।

अहंकारी पर्वत, गिलहरी जैसे तुच्छ जीव से शाश्वत ज्ञान को सुनकर स्वयं पर बहुत शर्मिंदा हुआ। उसने हाथ जोड़कर गिलहरी से बड़े सुमधुर शब्दों में कहा--हे परम ज्ञानी गिलहरी रानी ! तुम सचमुच धन्य हो। आज तुम्हारे चरणों में मेरा सिर श्रद्धा से नतमस्तक हो गया है। तुमने मेरा अज्ञान दूर कर मेरा पतन होने से बचा लिया है। तुमने जब इतना ज्ञान दिया है तो मेरी एक जिज्ञासा पर और थोड़ा सा ध्यान देना। अविद्या के वशीभूत होने के कारण अज्ञानता जैसे महाराक्षस की पकड़ से इन अभागे लोगों को अज्ञानमुक्त कराने के हित में उपाय नहीं है क्या ? ईश्वर ने ऐसे लोगों के हित में क्या कोई व्यवस्था नहीं की है ? गिलहरी ने उत्तर दिया--हे अनुपम गिरि ! तुम्हारी वाणी में अचानक सरलता तथा व्यक्तित्व में समर्पण भाव देखकर मुझे अति हर्ष हो रहा है। देखो, ईश्वर बहुत दयालु है। वे स्वयं नारायण सर्वशक्तिमान आनन्दकन्द श्री प्रभुजी अपने विभिन्न रूपों में धर्म के रक्षार्थ तथा विकार युक्त, दुखःक्लेशों से पीड़ित दीन जनों के लिए पुनः पुनः अवतार लेकर इस भूमण्डल की शोभा बढ़ाते हैं। अब तक अनेक सन्त--महापुरुषों के रूप में अवतरित वे प्रभु अपनी वाणी, आचरण, जीवन चरित्र तथा अपने अनुपम साहित्य से अनेक ऐसी दुर्लभ शिक्षाओं और नीतियों को पृथ्वी पर छोड़ जाते हैं। जिनके सहारे हजारों वर्ष अर्थात अगले ईश--अवतरण पर्यन्त तक की

मानव जाति अपने जीवन को सुव्यवस्थित कर सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि किसी प्रकार मनुष्य सिद्ध महापुरुषों की संगति प्राप्त कर ले और उनकी शिक्षाओं का अनुसरण कर ले। सभी श्रेष्ठ सन्तों ने लोगों को ईश्वर भक्ति के लिए प्रेरित किया है। कारण अविवेकी क्लेशमूलक प्रकृतिवाले लोगों के लिए सगुण भक्ति को छोड़कर अन्य सभी साधन कठिन पड़ जाते हैं। 'अज्ञानता' तो सिद्ध पुरुषों के सान्निध्य में पहुँच कर उनकी आज्ञाओं के अनुरूप कर्म करने पर उनकी करुणानुकम्पा से ही दूर होती है। पिछले प्रबल पुण्यों के आधार पर ईश्वर की विशेष कृपा के फलस्वरूप ही किसी को परम तत्त्वज्ञानी पूर्ण योगिराज सद्‌गुरुदेव भगवान की शरण प्राप्त होती है। सिद्ध पुरुषों के सत्संग की दुर्लभता को भलीभाँति समझकर सन्त शिरोमणि श्री तुलसीदास जी लिखते हैं— "बिन हरि कृपा मिले नहीं संता" — श्री गोस्वामी जी का संकेत सन्त रूप में महान सिद्ध पुरुषों की तरफ ही है। ऐसे बिरले अनन्त योग विभूतियों से सम्पन्न सन्त ही हरि कृपा स्वरूप मिल सकते हैं। आधुनिक युग में आधुनिकता में सिमटे साधारण स्तर के साधु—सन्त तो स्थान—स्थान पर सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। काम, क्रोध, मोह तथा अहंकारादि से युक्त मनुष्य की वासनाएँ कभी शान्त नहीं होतीं हैं। अपनी प्रबल वासनाओं की सन्तुष्टि के लिए ऐसे नीचे प्रकृति के लोग किसी भी प्रकार के अनुचित व अनैतिक कार्यों के लिए अज्ञानता के रहते विषय—वासनाओं का त्याग करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कठिन क्या असम्भव ही कहना चाहिए। श्री सद्‌गुरुदेव—भक्ति में, उनकी आज्ञाओं का पालन करने से हमारे पिछले समस्त मल धुल जाते हैं अर्थात अज्ञानता का क्षय होता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप में प्रकट होती है। गिलहरी के मुख से सद्‌गुरु—महिमा का ज्ञान सुन कर विशाल हिमालय के हृदय को अपार हर्ष हुआ। उसका समस्त अहंकार जाता रहा। उसने अत्यन्त उल्लसित मन से गिलहरी से कहा—

"बहुत सुन्दर ! गिलहरी रानी निःसन्देह अति सुन्दर।" कुछ गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुये उसने पुनः गिलहरी से प्रश्न किया—

"हे दिव्य ज्ञान रखने वाली गिलहरी रानी मेरी एक शंका और है जो मुझे परेशान कर रही है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि हम तुम एक ही स्थान पर निवास करते हैं, फिर वह कारण क्या है जिससे तुम्हारा अन्तःकरण इतना जाग्रत है। तुम दिव्य ज्ञान रखती हो लेकिन मैं निरा अज्ञानी रहा हूँ ऐसा क्यूँ ?"

योग सिद्धांतों एवं सद्‌गुरु महत्व को भलीभाँति समझने वाली उस सामान्य सी दिखने वाली उपेक्षित और तुच्छ गिलहरी ने अपना विद्वतापूर्ण उत्तर दिया—

"हे समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ महीभृत ! इसका प्रमुख कारण यह है कि तुमने अभिमानवश उन महासिद्ध योगियों की ओर ध्यान नहीं दिया जो तुम्हारे घने वनों की छाया में वर्षों से अपना आसन लगाये बैठे हैं। मैं प्रतिदिन श्रद्धायुक्त होकर इनका दर्शन करने के लिए आती हूँ। इनका सत्संग पाने के लिए प्रायः इनके निकट घूमती रहती हूँ। ये सिद्ध महापुरुष शक्तिपुंज हुआ करते हैं। प्रतिपल इनके पवित्र शरीर से दिव्य शक्ति का उत्सर्जन होता रहता है। मैंने इनमें विश्वास किया, इनसे प्रेम किया और इन्हें पा लेने के बाद फिर अन्य कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं की। इनकी रजधूल में ही लोटकर मैंने स्वयं को धन्य किया। मैंने कभी इनका ज्ञानोपदेश नहीं सुना। पर्वत ने गिलहरी को बीच में ही टोकते हुये कहा—क्षमाकरना मुझे, यहाँ पर तुम्हारी बातों पर कुछ संशय होता है। सिद्ध महापुरुषों के ज्ञानोपदेशों को सुने बिना ही तुम ज्ञान की इतनी श्रेष्ठ चर्चा

करने में समर्थ हो यह बात मेरी मूढ़ बुद्धि में ठीक से स्थान नहीं ले पा रही है। प्रत्युत्तर में गिलहरी ने अपनी पूर्व चर्चा को आगे बढ़ाते हुये कहा–

"सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मैंने कभी भी इन सिद्ध महापुरुषों का कोई ज्ञानोपदेश नहीं सुना, न कभी ज्ञान प्राप्त करने की याचना ही इनके श्री चरणों में प्रस्तुत की फिर भी मैंने ज्ञान प्राप्त किया है। ऐसे लोग, जो सांसारिकता में भी भारी रुचि रखते हैं। और सद्गुरुदेव से ज्ञान प्राप्त करने की रात–दिन याचना भी करते हैं, सिर्फ मुर्खता करते हैं। इस प्रकार के भक्त प्रभु के वो चालाक भक्त है जो संसार भी छोड़ना नहीं चाहते और ब्रह्मलोक भी प्राप्त करना चाहते हैं। तुम्हीं सोचो संसार की विषय भावनाओं में फंसा हुआ प्राणी दिव्यता को कैसे प्राप्त हो सकता है ? यही लोग अपनी चालाक भक्ति के माध्यम से अपना मिथ्याप्रेम प्रदर्शन तथा स्वार्थ पूर्ण पुरुषार्थ अभिनय से सद्गुरुदेव भगवान को बहलाने की कोशिश तो करते हैं, किन्तु ईश्वर में सच्चा प्रेम धारण करके मानव हित में जीवन बलिदान करने का पुरुषार्थ करके उन परम परमेश्वर श्री सद्गुरुदेव जी के हृदय को जीतने की कोशिश कभी नहीं करते।

वास्तव में ज्ञान प्राप्त अथवा प्रदान करने की कोई वस्तु नहीं है यह तो सद्गुरुदेव में अनन्य श्रद्धा–प्रेम तथा उनका संग पाकर स्वत: ही प्रकट हो जाता है। इसमें यदि पुरुषार्थों को और सम्मिलित कर लिया जाय तो सोने पर सुहागा समझना चाहिए। इसका योग सिद्धांतय कारण यह है कि निरन्तर प्रबल प्रेम–श्रद्धा से सिद्ध पुरुषों का सामीप्य पाकर उनकी देह से उत्सर्जित सूक्ष्म दिव्य शक्ति के प्रभाव से मेरे जन्म–जन्मान्तरों के मल जलते रहे हैं फलस्वरूप मेरा 'ज्ञान' जो मेरे पास पहले से ही था मल रहित होकर अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त हो गया बिल्कुल ऐसे ही जैसे कोई दर्पण वर्षों से जमी धूल के हट जाने से अपनी पूर्व चमक को प्राप्त कर लेता है। अब मैं सच को सच तथा झूठ को झूठ समझने में पूर्णत: कुशल हूँ। तुमने इन महापुरुषों में कभी अपनी श्रद्धा नहीं दिखलायी बल्कि इनकी श्रेष्ठता पर अज्ञानी मनुष्यों की भांति सदैव सन्देह ही किया। तुम देह से भले ही इन सिद्ध पुरुषों के अति निकट थे किन्तु निष्ठा के अभाव में तुम्हारी आत्मा को इन सत्पुरुषों का संग नहीं प्राप्त हो सका। यही कारण है कि एक ही स्थान पर साथ–साथ रहते हुये भी जिस ज्ञान को मैंने प्राप्त किया उसे प्राप्त करने से तुम सदैव वंचित रहे।

सांसारिक मनुष्यों की स्थिति तो इन मामलों में अत्यन्त गम्भीर और निराशाजनक है। लोगों के आत्मिक कल्याण के लिए स्वयं परमेश्वर, सर्वसमर्थ सद्गुरुदेव भगवान के रूप में साधारण मनुष्यों के मध्य प्रकट होकर अपनी विलक्षण लीलाऐं करते हैं। किन्तु वासनात्मक मनोवृत्तियों वाला मनुष्य अपने अहंकार से भ्रष्ट हुई बुद्धि की शरण होकर उनके परमोत्कर्ष को प्रत्यक्ष देखकर भी उन करुणानिधान श्री प्रभुजी को पहचानने में भारी त्रुटि करता है। कुतर्क, भ्रम और संशय के अतिरिक्त उसके पास कुछ नहीं होता। वे आनन्द कन्द प्रभुजी अपने लीलाकाल में पलक झपकते न जाने क्या–क्या खेल कर जाते हैं। किन्तु मूर्ख अज्ञानी मनुष्य उनके लीलावसानोपरान्त भी उन्हें समझने की चेष्टा नहीं करता उन्हें अपने ही जैसा मानवीय हरकतें करने वाला मात्र मनुष्य समझ लेता है। संदेहपूर्ण सिद्ध–संगति का परिणाम साधक के लिए संदेह जनक ही रहता है। इस विषय को लेकर अक्सर यह देखा जाता है कि किसी–किसी व्यक्ति को अपने गुरुदेव की शरण में पूरा जीवन व्यतीत होने को आया किन्तु उनका 'अज्ञान' अपनी पूर्व स्थिति में ही सुरक्षित बना हुआ है।

दूसरी तरफ ऐसा भी देखा गया है कि किसी–किसी श्रेष्ठ साधक ने थोड़े ही समय में सद्गुरुदेव की

कृपा से योग जैसी अमूल्य निधि को प्राप्त करके अपने जीवन को धन्य कर लिया है। जो लोग गुरुशरण में तो आ जाते हैं किन्तु बुद्धि में सन्देह पाले रहते हैं कि पता नहीं गुरुदेव जी पूर्ण सिद्ध योगिराज हैं भी कि नहीं। वास्तविकता की पुष्टि होते ही ये अपना ढोंग शुरू कर देते हैं। ऐसे स्वार्थी लोग अपने गुरुदेव से कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि उनकी गुरुसेवा भक्ति में गुरुदेव के प्रति सच्ची श्रद्धा के स्थान पर अभिनय का समावेश अधिक होता है। ऐसे ही लोग दीर्घकाल तक गुरु–शरण में रहने के बावजूद भी आध्यात्मिक शक्तियों से बिल्कुल खाली होते हैं। सद्गुरुदेव भगवान के दरबार में एकदम शुद्ध नकद सौदा होता है। उधर पुरुषार्थ करो और इधर तुरन्त प्रसाद लो। लेने वाले क्या–क्या ले लेते हैं। ये वे स्वयं भी नहीं जानपाते हैं ऐसी गुरुदेव की लीला होती है। जब वह अहसास कराते है तभी बात स्पष्ट होकर समझ में आती है। धन्य है वे गुरुभक्त जो गुरुदेव की खुशी में ही खुशी देखते हैं, अपनी समस्त वासनाओं–इच्छाओं का मन से परित्याग करते हैं। ऐसे साधक गुरुदेव भगवान को अतिशय प्रिय होते हैं। आधुनिक मनुष्य तो अब इतना अज्ञानी हो चला है कि उसकी अज्ञानता के विषय में जितना भी कहें, अल्प ही होगा।

सद्गुरुदेव जी सदैव सरलता और परस्पर प्रेम की भाषा सिखलाते हैं और अज्ञानी मनुष्य अपने गुरुदेव की अवज्ञा करके ईर्ष्या के वशीभूत हो वैमनस्य की भावना को ही जन्म देता है। गुरुदेव जब संसार से विमुख होकर चले जाते हैं तो यह मनुष्य उनके नाम का भी सुरक्षित रखने की आवश्यकता नहीं समझता है। जिस भौतिक सम्पदा को सद्गुरुदेव जो ठुकरा कर चले जाते हैं वह लालची मनुष्य उस पर अपना अधिकार पाने के लिए, सिर्फ अतृप्त वासनाओं की सन्तुष्टि हेतु व व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित होकर आदर्श मानव मूल्यों की अवहेलना कर जघन्य अपराध करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। गुरुदेव उपदेश करते हैं। यज्ञ, तप, दानादि करने का ताकि मनुष्य–मन पवित्र हो सके। किन्तु वह विलासताओं की ओर दौड़कर अपवित्रता लादने की पूरी तैयारी करता है। कितना अभागा यह मनुष्य, वह सच्चिदानन्द परमेश्वर सद्गुरु रूप में उसका कल्याण करने के लिए स्वयं अवतरित होता है और उपदेश करके चला जाता है किन्तु वह अपने गुरुदेव की एक नहीं सुनता। 'शाश्वत सत्य' को छोड़कर नश्वर अनित्य वस्तुओं को ही प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। गुरुदेव के स्थूल दर्शनों की उपस्थिति में यदि सिर्फ उनके श्री चरणों में ही प्रेम किया जाय तो आगे के समय में ऐसी अप्रिय और कष्टकर स्थिति ही क्यों पैदा हो ? पर्वत ने आगे कहा– "कहते हैं कि ज्ञान हो जाने के बाद किसी प्रकार का भय नहीं रहता। हे गिलहरी बहिन, क्या तुम्हें किसी से भय है ? निर्भीक गिलहरी ने तपाक से उत्तर दिया केवल अज्ञानी मनुष्य से भय है ईश्वर मुझे कभी इनकी संगति प्रदान न करें। तुम भी कभी इनकी संगति में शामिल मत होना। पर्वत ने बड़ी भावुकता से उत्तर दिया है गिलहरी रानी मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मैं अपने व्यक्तित्व में इस गन्दे मनुष्य की कभी छाया भी नहीं पड़ने दूँगा। और गिलहरी पर्वत का उत्तर सुनकर खिलखिलाती हुई अपने घर को लौट गई।

(Ralph walde Emerson द्वारा रचित सुप्रसिद्ध कविता **The Mountain and the Squirrel** से प्रेरणा लेकर)

* * *

सिद्धयोग के आजीवन सदस्य

'सिद्धयोग' योग सिद्धांतो एवं तत्सम्बन्धी शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक पत्र है और गत तीन दशकों से निरन्तर सद्गुरुदेवजी के आशीर्वाद से प्रगति पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसित हो रहा है। निम्नांकित सूची उन सुधी पाठकों की है जिन्होंने आजीवन सदस्यता ग्रहण कर 'सिद्धयोग' के पावन प्रवाह को निरन्तरता देने के हमारे प्रयास को बल प्रदान किया है। **–व्यवस्थापक**

१. श्री कृष्ण शर्मा – गिरावर जि० रोहतक
२. सन्तोष कुमार बसी –गुड़गांव
३. गजराज सिंह – कानपुर देहात
४. आत्मा प्रसाद सिंह – वाराणसी
५. डा० विजय सिंह – गोरखपुर
६. गयाप्रसाद नामदेव – भोपाल
७. विन्ध्यवासिनी सिंह एडवोकेट – वाराणसी
८. केशव उपाध्याय – वाराणसी कैंट
९. दामोदर प्रसाद – झाँसी
१०. बृजनन्दन तिवारी –झाँसी
११. बल्देव कुमार कुकरेजा – झाँसी
१२. रमेश चन्द्र मेहता – मंडी
१३. श्रीमती सुदर्शन कुमारी –फरीदाबाद
१४. श्रीमती विद्या कौशल – मंडी
१५. नगेन्द्र प्रसाद बाजपेयी –शिवपुरी
१६. विश्वनाथ दयाल – कानपुर
१७. श्री आर.पी.दुबे –गोरखपुर
१८. श्री नारायण दत्त शर्मा – कानपुर
१९. डा. कैलाश नाथ शर्मा – वाराणसी
२०. श्रद्धाचार्य कौशिक –दिल्ली
२१. श्री शान्ति हेण्डलूम्स इंडस्ट्रीज – पानीपत
२२. श्री ब्रजमोहन वशिष्ठ –जगाधरी
२३. श्री खुदबुद ठेकेदार – वाराणसी
२४. श्री दयालु मुनिजी महाराज – भिवानी
२५. श्री रमेशचंद दीक्षित – जयपुर
२६. श्री राजेश गर्ग – पानीपत
२७. श्री राजेश श्रीवास्तव – आगरा
२८ श्री जय प्रकाश कंसल – पानीपत
२९. मैसर्स श्याम बिहारी अग्रवाल – झाँसी
३०. श्री सत्यप्रकाश गुप्ता – भोपाल
३१. श्री के.के. शर्मा – नई देहली
३२. नरेन्द्र चौधरी – दिल्ली
३३. गणेश कुमार – दिल्ली
३४. श्री विनय सिनरीया – झाँसी
३५. श्री जगदीश चन्द वर्मा – अहमदाबाद
३६. श्री अशोक वर्मा – दिल्ली
३७. श्री रमावतार सुगन्ध – दिल्ली
३८. श्री विनय कुमार अग्रवाल – दिल्ली
३९. श्री विद्याराम – दिल्ली
४०. श्री युवराज सिंह –जयपुर
४१. डा.आर.एस.चन्देल – उदयपुर
४२. श्रीमति शिवानी नागेश पाठक –अहमदाबाद
४३. श्री सज्जन कुमार अग्रवाल – धनबाद
४४. श्री अचल पावला – दिल्ली
४५. प्रोफेसर बी.डी. शर्मा – मुम्बई
४६. श्री वी.के. सक्सेना –भिण्ड
४७. श्री परस राम सनसनवाल – झज्जर
४८. श्री मोहनलाल अग्रवाल –लखनऊ
४९. श्री विवेक बंसल –गाजियाबाद
५०. श्री आर.एस. शर्मा झाँसी
५१. श्रीमती मीरा शर्मा –भिण्ड
५२. श्री पवन कुमार पुरी – कांगड़ा
५३. श्री विजय पुरी – कांगड़ा
५४. श्री हरीश पठानिया –कांगड़ा
५५. श्री कुलदीप सचदेवा – कांगड़ा
५६. श्री आर.के. शर्मा – कांगड़ा
५७. श्री अमृतलाल हाड़ा – कांगड़ा
५८. श्रीमति अरुणा सिंह – दिल्ली
५९. श्रीमती दीप्ती वर्मा – अहमदाबाद
६०. श्री कुन्दन लाल अग्रवाल – नैनीताल

सिद्धयोग प्रकाशन का आय—व्यय विवरण

सन् १९९७—९८ (वर्ष ३०वाँ)

आय	रु०
● रोकड़ जमा कार्यालय में	१२३—४५
● बैंक शेष जमा (२०.३.९७)	५,०३६—४९
● ग्राहक शुल्क— वार्षिक एवं द्विवार्षिक (वर्ष ३१वें के रु० १४२० सहित)	४१,२८५—००
● आजीवन शुल्क	८,३६२—००
● सहर्ष सहयोग राशि (गुरु भाई बहनों से प्राप्त डा० विजयसिंह, प्रेमनारायन वाजपेई आदि सहित)	२,४३५—००
● शेष उधार वापिसी आई	३०—००
● स्व० श्री राजनारायन शर्मा की धर्म पत्नी से प्राप्त	६५०—००
● पिछले वर्ष २९वें की बकाया राशि द्वारा श्री जयनारायन राय से आये।	६००—००
● जनवरी + फरवरी ९८ अंक के भुगतान के लिये उधार लिये	५०००—००
● आजीवन सदस्यता शुल्क के जमा रु० ५८८९—०० में से रु० ३०००—०० निकाले	३०००—००
● योगिनी बहन डा० उमाशर्मा से १२ माह के पत्रिका टाइटिल में सहयोग प्राप्त	१०,०००—००
● बैंक से प्राप्त ब्याज	६६३—००
योग	७७,१८४—९४

व्यय	रु०
● सिद्धयोग प्रकाशन अप्रैल ९७ से मार्च ९८ तक छपाई पर खर्च	३७,८२२—००
● प्रिंटिंग प्रैस को दिया गया एडवांस	१,०१५—५०
● कागज बाइंडिंग मजदूरी आदि पर किया गया खर्च	१९,७३८—५०
● कार्यालय खर्च (पंखा मरम्मत बल्ब आदि)	३३०—००
● स्टेशनरी (स्टेपिल पिन आदि)	१५४—००
● ढुलाई रिक्शा भाड़ा, किराया आदि (पत्रिका डिस्पैच हेतु)	३२९—५०
● टाइटिल का ट्रांसपोर्ट खर्चा	४५—००
● बाइंडिंग खर्च (१५ सैट वर्ष ९६—९७ के)	१५०—००
● रसीद बुकें छपाई खर्च (वर्ष ९७—९८)	२००—००
● बैंक कमीशन, ड्राफ्ट	१६४—००
● डाक खर्च (रजिस्ट्री व पत्राचार)	११४—२५
● डाक खर्च (पत्रिका डिस्पैच हेतु अप्रैल ९७ से मार्च ९८ तक)	३,८३१—५०
● पत्रिका टाइटिल छपाई कागज आदि (दिल्ली में मुद्रित)	१०,०००—००
योग	रु० ७३,८९४—२५
बैंक में शेष (२७—३—९८)	रु० ९०३—४९
कार्यालय में रोकड़ जमा	रु० २,३८७—२०
	रु० ७७,१८४—९४

नोट—प्रकाशन में आये घाटे की पूर्ति गुरुभाई—बहनों से प्राप्त सहयोग राशि, योगिनी बहन डा० उमाशर्मा से १२ माह के पत्रिका टाइटिल में प्राप्त सहयोग, उधार ली गई धनराशि, आजीवन सदस्यता का जमा मूलधन एवं आजीवन सदस्यता से की गई है।

—व्यवस्थापक

एको हि रुद्रो

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यं जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

[श्वेताश्वतरोपनिषद अध्याय-३/२]

अर्थात

जो अपनी स्वरूपभूत विविध शासन-शक्तियों द्वारा इन सब लोकों पर शासन करते हैं—उनका नियमानुसार संचालन करते हैं, वे रुद्ररूप परमेश्वर एक ही हैं। अर्थात् इस विश्व का नियमन करने वाली शक्तियां अनेक होने पर भी वे सब एक ही परमेश्वर की हैं और उनसे अभिन्न हैं। इसी कारण, ज्ञानी जनों ने जगत के कारण का निश्चय करते समय किसी भी दूसरे तत्व का आश्रय नहीं लिया। सबने एक स्वर से यही निश्चय किया कि एक परब्रह्म ही इस जगत के कारण हैं। वे परमात्मा सब जीवोंके भीतर अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं। इन समस्त लोकों की रचना करके उनकी रक्षा करने वाले परमेश्वर प्रलयकाल में स्वयं ही इन सब को समेट लेते हैं, अर्थात् अपने में विलीन कर लेते हैं। उस समय इनकी भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति नहीं रहती।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 003 APRIL 1998

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ---------------------

आसीनो दूरं व्रजति शयनो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

(कठोपनिषद् 1/21)

परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। एक ही समय में उनमें विरुद्ध धर्मों की लीला होती है। इसी से वे एक ही साथ सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान बताये गए हैं। वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाम में विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर से दूर चले जाते हैं। परमधाम में निवास करने वाले पार्षद भक्तों की दृष्टि में वहां शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। वे सर्वत्र सब रूपों में नित्य अपनी महिमा में स्थित हैं।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326